ओ३म्

सन्ध्या प्रदीपिका

अर्थात्

वैदिक सन्ध्या के मन्त्रों की विस्तार पूर्वक व्याख्या

लेखक और प्रकाशक

मास्टर नत्थनलाल

अध्यापक गवर्नमेंट हाई स्कूल व पुस्तकाध्यक्ष आर्य समाज

शिमला

सम्वत् १९८२

दयानन्दाब्द १०२

प्रथमबार]

प्रकाशक—
मास्टर नत्थनलाल,
अध्यापक गवर्नमेंट हाईस्कूल
शिमला।

मुद्रक—
बाबू भद्रसैन वर्मा,
संजीवन प्रेस फतहपुरी देहली।

प्रस्तावना

द्विजानां नित्यकृत्येषु—अतीवावश्यकं सान्ध्यं कर्म । एतदन्तरा द्विजत्वमेवव्यपदेष्टुं शक्यते । द्विजत्वसम्पत्तये—द्विजत्व संरक्षणाय वा प्रत्यह मे तदनुष्ठीयतेऽस्म च्छ्रद्धास्माकं पूर्वजैरधुनातनैश्चास्तिक महाभागैः।

धर्मविषये परमं प्रमाणं वेदस्तदनुकूलाः स्मृतयश्च । वेदारभ्येति-हासपुराण पर्यन्तं संध्यादिनित्यकर्मणामावश्यकतोद्घोष्यते निर्विवादम् । स्मृतिकाराणामग्रण्यो भगवान् मनुरपिसंसन्ध्या विषये समुद्गिरति—.

"पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्क दर्शनात् । पश्चिमांतुस-मासीनः सम्यगृक्षविभावनात् । पूर्वांसन्ध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनोव्यपोहति । पश्चिमां तुसमासीनोमलंहन्ति दिवाकृतम् । द्वितीयाध्यायेश्लोक सं० १०१–१०२ । स्मृतिकाराणामेतादृश वचनानि न खलु निर्मूलानि "अहरहः सन्ध्या मुपासीत" इत्यादि–श्रुतीनां जागरूकत्वात्।

सान्ध्ये कर्मणि संनिवेशितानां प्राणायामाघमर्षणादीनांचमहत्वं बहुशोवर्ण्यते–स्मृतिकारैः—

प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्चकिल्बिषम् । यथाश्वमेधः सर्वपापप्रणाशनः । तथाऽघमर्षणं सूक्तं सर्वपापप्रणाशनम् । इत्यादि वचनैः । एवंचास्मिन् विषये नकेनचिदास्तिकेन विप्रतिपद्यते. परं कालप्रभावाद दृष्ट प्रभावा-दन्यथा वाऽऽर्यकुल प्रसूतैरपि स्वपूर्वजानांस्वस्मिन् गौरवमन्वा कुर्वाणैरपि नादरेण संध्यादि कर्म सम्पाद्यते—तदेतद् दुखाःकरोत्यास्तिकमात्रमित्या लोच्य श्रीयुत मास्टर नत्थनलालमहाशयो युक्त्यादिना संध्याया विशदार्थ प्रकाशनेन च ताननुकूलयितुं बहु प्रयतितवान् एतत्परिश्रम साफल्यं संध्यैकपद्धादृश महाभागाः करिष्यन्ति ।

११ । ९ । २७ श्री० भास्करानन्द सरस्वती

भाषानुवाद

द्विजातियों के नित्य कर्म में संध्या करनी अत्यंत आवश्यक है। इसीसे द्विजाति कहलाया जाता है द्विजत्व की रक्षा करने और प्रतिष्ठा के लिये रामचन्द्रादि पूर्वज नित्य श्रद्धा पूर्वक संध्या किया करते थे।

धर्म के विषय में वेद परम प्रमाण हैं। और स्मृतियां उनके अनुकूल हैं। वेदों से लेकर इतिहास पुराणों तक में यह नर्विवाद घोषणा की गई है कि संध्यादि कर्म नित्य करने चाहिये। स्मृतिकारों में श्रेष्ठ भगवान मनु संध्या के विषय में कहते हैं—

पूर्वां संध्यां जपंतिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनात्।
पश्चिमांतु समासीनो सम्यगृक्ष विभावनात्॥
पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनोव्यपोहति॥
पश्चिमांतु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम्॥

द्वितीयाध्याये श्लोक सं०
१०१—१०२।

अर्थ—प्रातः काल सावित्री का जप करते हुए सूर्य दर्शन तक पूर्वाभिमुख होकर बैठे और सायंकाल को पश्चिमाभिमुखी होकर तारा दर्शन तक बैठे।

प्रातः काल सन्ध्या करने से रात्रि के मन के दोष नष्ट होते हैं और सायंकाल की सन्ध्या से दिन भर के मल नष्ट होते हैं।

स्मृतिकारों के ये वचन निर्मूल नहीं है क्योंकि श्रुति वारम्वार पुकार कर कह रही है कि "अहरहः सन्ध्यामुपासीत" अर्थात् प्रति दिन

सन्ध्या करो। सन्ध्या में आये हुए प्राणायाम और अघमर्षणादि का महत्व स्मृतिकारों ने बहुत कुछ वर्णन किया है। जैसा कि—

प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्विषम्। यथाश्वमेधः सर्व पाप प्रणाशनः। तथाऽघमर्षणं सूक्तं सर्व पाप प्रणाशनम्।

अर्थात् धारणादि प्राणायाम के द्वारा दोषों को नष्ट करे। जैसे अश्वमेध से सब पापों का नाश होता है उसी तरह अघमर्षण सूक्त से तमाम पाप नष्ट होते हैं। इस प्रकार इस विषय में किसी आस्तिक ने उपेक्षा नहीं की परन्तु काल के प्रभाव से और दुर्भाग्य वश आर्य वंशजों ने भी अपने पूर्वजों के गौरव को अपने अन्दर धारण करते हुए भी सान्ध्यादि कर्म को यथावत आदर पूर्वक पालन नहीं किया यह प्रत्येक आस्तिक मात्र के लिये दुःख का विषय है यह देख कर श्रीयुत मास्टर नत्थनलाल जी महाशय ने युक्ति आदि से सन्ध्या का विषद् अर्थ प्रकाशन करके उसे सर्व साधारण के लिये वास्तविक उपयोगी बनाने में जो परिश्रम और प्रयत्न किया है उसे संन्ध्या के प्रति आदर रखने वाले आर्य पुरुष सफल करेंगे ऐसी आशा है।

११। १ २०

श्री भास्करानन्द
सरस्वती

वेदालंकार जी की सम्मति

मास्टर नत्थनलाल जी ने "सन्ध्या प्रदीपिका" नामक पुस्तक को लिख के एक बड़ी भारी आवश्यकता को पूर्ण किया है। मास्टर जी ने, अब तक जितनी भी सन्ध्या पर पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं उन सब का आद्योपान्त अध्ययन किया है। उन सब सन्ध्या पुस्तकों में जो २ भी त्रुटियां या कमियां थीं उन्हें सफलता पूर्वक दूर करने का प्रयत्न किया गया है।

मास्टर जी ने सन्ध्या के मंत्रों के प्रत्येक शब्द की महत्ता तथा सौन्दर्य प्रदर्शित करके सन्ध्या की उपयोगिता को बहुत ही अधिक बढ़ा दिया है। सन्ध्या के मंत्रों तथा शब्दों पर साधारणतया जितनी भी शङ्काएं की जाती हैं उन सब का यथाशक्ति उत्तर देने का इस पुस्तक में प्रशंसनीय प्रयत्न किया गया है। सन्ध्या के विशेष मंत्रों को जो २ विशेष नाम दिये गये है उन में क्या रहस्य है इस का भी समुचित रीति से उत्तर दिया गया है।

सब से ज्यादा आकर्षक तथा योग्यता पूर्ण बात इस पुस्तक में यह है कि इस पुस्तक में प्रत्येक मंत्र के आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक, तीनों प्रकार के अर्थ सम्यक्तया प्रतिपादित किये गये हैं। मैंने इस पुस्तक को अच्छी तरह पढ़ा है परन्तु मुझे इन मंत्रों के जो अर्थ किये गये हैं उन में जरा भी खींचातानी नहीं प्रतीत हुई। मास्टर जी ने जिस २ शब्द के विशेष अर्थ किये हैं—उन के साथ ही प्रमाण भी दे दिये हैं।

मास्टर जी यद्यपि संस्कृत में अद्वितीय विद्वान् नहीं तथापि जो पुस्तक इन्होंने लिखी है वह अत्यन्त योग्यता, प्रयत्न तथा अन्वेषण के साथ लिखी जाने के कारण अत्यधिक उपदेय और लाभप्रद है। हमें निश्चय है कि सामाजिक-जगत् में इसका उचित सन्मान होगा।

सामाजिक-पुस्तक-जगत् में इस "सन्ध्या" के पदार्पण को देख कर हम उसका हृदय से स्वागत करते हैं।

जयदेव वेदालङ्कार, स्नातक गुरुकुल कांगड़ी,

पुरोहित आर्य समाज शिमला,

धन्यवाद ।

इस पुस्तक के लिखने के लिये हमें अनेक ग्रन्थों से सहायता लेनी पड़ी है । उन ग्रन्थों के नाम जगह २ पर पुस्तक के भीतर आगये हैं । हम उन के लेखकों का हृदय से धन्यवाद करते है । इसके अतिरिक्त श्री पं० जयदेव जी वेदालङ्कार स्नातक गुरुकुल कांगड़ी के भी हम अत्यंत अनुग्रहीत हैं जिन्हों ने पुस्तक के मूल लेख को आदि से अंत तक पढ़ कर भाषा संशोधन का कष्ट उठाया, और पुस्तक के सम्बंध में अपनी उत्तम सम्मति भी लिख कर प्रदान की जो ज्यों की त्यों आगे छाप दी गई है । बाबू इंद्र नारायण खन्ना देहलवी संस्कृत ऐम० ए० ने भी इस पुस्तक के कुछ भाग को देखने की कृपा की थी अतः उनका भी धन्यवाद करना हमारा कर्तव्य है । श्री १०८ स्वामी जी महाराज ने संस्कृत प्रस्तावना लिखी है जिस के लिये हम स्वामी जी के अत्यन्त अनुगृहीत श्री मास्टर शिवचरणदास जी मंत्री आर्य समाज चावड़ी बाजार देहली तथा ला० चिरञ्जीलाल जी पलवल निवासी भूत पूर्व भंडारी गुरुकुल कांगड़ी ने पुस्तक छपवाने और प्रूफादि देखने में हमें सहायता दी है यह दोनों महाशय भी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं । म० कृपाराम जी प्रधान आर्य समाज पलवल का भी हम हृदय से धन्यवाद करते हैं जिन की प्रेरणा से इस पुस्तक के लिखने का हमें सौभाग्य प्राप्त हुआ है ।

लेखक:—

दो शब्द

न सन्ध्या सन्ध्यन्ते नियमित नमाजं न कुरुते ।
नवा मौंजी बन्धं कलयति न वा सुन्नत विधिम् ॥
न रोजां जानीते व्रत मपि हरेनैंव कुरुते ।
न काशी मक्कां वा शिवं शिव न हिन्दुर्न यवनः ॥

यह किसी कवि ने बड़ा सुन्दर व्यंग कहा है । इस का अर्थ यह है कि:—

जो न सन्ध्या करते हैं न नमाज़ पढ़ते हैं, न जनेऊ पहनते न सुन्नत कराते हैं न रोजा रखते और न व्रत करते हैं न काशी जाते और न मक्का जाते हैं । ये आज कल के लोग न हिन्दू हैं न मुसल्मान ।

बीसवीं शताब्दि अहम्मन्यता और अर्थ बाद की शताब्दि है । विज्ञान और प्रकृति के विश्लेषण ने मनुष्य समाज को सर्व शक्तिमान परमेश्वर की अपेक्षा अपने आप पर बहुत कुछ विश्वासी बना दिया है ।

ऐसी दशा में नित्य कर्म और सन्ध्या जैसी पुरातन श्रद्धा युक्त आस्तिक परिपाटी पर कुछ कहना साहस की बात है। परन्तु ईश्वर का धन्यवाद देना चाहिये कि अत्यंत प्राचीन संस्कारों का प्रभाव अभी मनुष्यों के हृदय पटों पर है और आज सहस्रों मनुष्य अविश्वासी होने पर भी परम्परा की दृष्टि से परमेश्वर में श्रद्धा रखते हैं । कविवर अकबर ने आज कल की नास्तिक भावना देख कर बड़ी सुंदरता से कहा था—

रकीबों ने रपट लिखवाई है जा जा के थाने में ।
कि अकबर नाम लेता है खुदा का इस जमाने में ॥

परन्तु क्या हम जैसे व्यवहार व्यस्त अधम प्राणी परमेश्वर के सम्बंध में तर्क कर सकते हैं ? प्रत्यक्ष और परोक्ष में दोनों के विषय में

अंधे की तरह टटोल कर चलने वाला विज्ञान वाद यदि उस प्रभु की टटोल का भी साहस करे—जिसने इस सारे सुंदर जगत का निर्माण किया है, और जो उसे क्षण भर में विध्वंस भी कर सकता है। तो यह हास्यास्पद है।

जो पक्षिओं के कलरव में बोलता है, नदी के कलकल में गाता और आकाश के उज्ज्वल आलोक में रमता है, क्या वह अधम मनुष्य की तर्क एवं कल्पना की वस्तु है? मनुष्य? जो एक फूल को देख कर मुग्ध हो जाता है, पक्षी की मधुर तान पर लोट पोट हो जाता है--जो जगत का तुच्छाति तुच्छ वस्तुओं का निर्लज्ज और अकृतज्ञ भिखारी है। वह कब उस जगत -उस फूल और पक्षीगण से अनंत तक व्याप्त जगत के निर्माण कर्त्ता की कल्पना कर सकता है, उसे उसकी कल्पना करनी योग्य है या उपासना!

यही उपासना सन्ध्या है। जो आत्मा को तृप्ति-शांति, धैर्य पवित्रता और जीवन देती है।

खेद है कि मनुष्य उस से दूर जा रहे है ऐसी दशा में सन्ध्या की विस्तार विवेचना ऐसी भाषा और भावों में जिस में अत्यंत प्राचीन सत्य और अत्यंत आधुनिक अन्वेषण हैं यदि कोई भक्त विचारवान मनुष्य समाज के सामने करे तो वह न केवल समाज का धन्यवाद पात्र है— प्रत्युत एक पवित्र हृदय समाज बन्धु भी है। मास्टर नत्थनलाल जी वैसे ही पुरुष हैं। उनकी सन्ध्या पर सुंदर व्याख्या का महत्व उपरोक्त शब्दों में प्रकट कर चुका हूं। इस सुंदर पुस्तका का घर २ प्रचार हो। और यह पुस्तक अपने भावों को समाज के हृदयंगम करे। यह मेरी आन्तरिक कामना है।

ता० १९।११।२७ श्री चतुरसेन शास्त्री वैद्य देहली।

विषय सूची

॥ ओ३म् ॥

भूमिका

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समाः ।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

यजु० ४० । २ ॥

शब्दार्थ—(इह) इस जगत में (कर्माणि) कर्तव्य कर्मों को (कुर्वन् एव) करता हुआ ही मनुष्य (शतं समा) सौ वर्ष तक (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे । (एवं) इसी प्रकार (त्वयि नरे) तुझ नर में (कर्म न लिप्यते) कर्म नहीं लिपटता है । (इतः अन्यथा) इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग (न अस्ति) नहीं है ।

इस मन्त्र में ईश्वर ने मनुष्य को आदेश दिया है कि हे मनुष्यो ! तुम सर्वदा कर्म करते हुए ही १०० वर्ष तक जीने की इच्छा करो । इस में दो विशेष बातें बतलाई गई हैं । एक तो यह कि मनुष्य की आयु साधारणतः १०० वर्ष है । पापमय जीवन व्यतीत करने से मनुष्य की आयु घट जाती है और प्रयत्न पूर्वक व्यतीत करने से मनुष्य अपनी आयु बढ़ा भी सक्ता है । आज कल भारत वासियों की आयु दिन प्रति दिन क्षीण हो रही है । इस का कारण बालविवाह आदि अनेक दुष्कर्म ही हैं । दूसरी बात वेद ने यह बतलाई है, कि मनुष्यों को आयु भर कर्म करते हुए ही जीने की इच्छा करनी चाहिये, अर्थात मनुष्य को आलसी बन कर जीने की इच्छा न करनी चाहिये । यहां यह भी

समझ लेना उचित है, कि कर्म युक्त जीवन व्यतीत करने से ही मनुष्य पूर्ण आयु को प्राप्त कर सकता है। इसी कारण ये दोनों बातें इकट्ठी कही गई हैं जो मनुष्य आलसी बन कर पड़े रहते हैं, उनकी पाचन शक्ति नष्ट हो कर उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, और वे अनेक रोगों से ग्रसित हो कर शीघ्र ही मृत्यु का ग्रास बन जाते हैं। अतः पूर्ण आयु भोगने के लिये मनुष्य को कर्म करते रहना अति आवश्यक है। वेद में जीवात्मा को अनेक नामों से सम्बोधित किया गया है उनमें से एक नाम "क्रतु" वा "शतक्रतु" भी है। इस से भी यही बात स्पष्ट होती है, कि जीवात्मा का स्वाभाविक धर्म ही कर्म करना है, और जीवात्मा को मनुष्य योनि में आकर १०० वर्ष पर्यन्त कर्म करते रहना चाहिये। × शतपथ ब्राह्मण भी "कर्म कुरु" 'हेमनुष्य कर्मकर, कर्मकर' की पुकार मचा रहा है। अत: यह सिद्ध हो गया कि मनुष्य को आयु भर कर्म करते रहना ही उचित है; आलसी बन कर पड़े रहना नहीं॥

वैदिक धर्म में कर्मों का बड़ा महत्व है। कर्म अनेक प्रकार के हैं, किन्तु वे सब के सब दो भागों में विभक्त हो सकते हैं "साधारण कर्म" और "विशेष कर्म" मनुष्यको अपने जीवन निर्वाह के लिये जो कर्म करने पड़ते हैं, जैसे खाना, पीना, उठना, बैठना, चलना, फिरना और धनोपार्जन करना आदि, वे सब ही साधारण कर्म की श्रेणी में गिने जा सकते हैं। इन कर्मों को मनुष्य त्याग ही नहीं सकता क्योंकि इन कर्मों के त्यागने से मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। ये सब पशु कर्म हैं। मनुष्य भी पशु है, इस कारण उसे भी ये कर्मकरने ही पड़ते हैं। दूसरे "विशेष कर्म" हैं, ये दो प्रकार के हैं, "नित्य कर्म" और "सामयिक

× देखो शतपथ ११।५।४।५

कर्म" सामायिक कर्म तो समय २ पर किये जाते हैं, जैसे अश्व-मेधादि यज्ञ, १६ संस्कार, होली आदि त्योहारों वा पूर्णमासी आदि पर्वों पर विशेष हवन यज्ञादि। परन्तु नित्य कर्म प्रति दिन ही कर ने चाहियें। मनु ने वे नित्य कर्म पांच प्रकार के बतलाये हैं—

अध्यापनं ब्रह्म यज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥
॥ मनु ३। ७०॥

(१) ब्रह्म यज्ञ (२) देव यज्ञ (३) पितृ यज्ञ (४) बलि-वैश्व देव यज्ञ (५) नृयज्ञ वा अतिथि यज्ञ॥

ये पांचों महायज्ञ कहलाते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में अश्वमेधादि अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन है। वे सब यज्ञ कहलाते हैं। महा यज्ञ नहीं। इसी से इन कर्मों की महानता विदित होती है। ये पांचों महायज्ञ मनुष्य मात्र के लिये कर्तव्य कर्म हैं, जैसा कि इनकी व्याख्या से विदित हो जायगा। अब पहिले हमें 'यज्ञ' शब्द पर विचार करना चाहिये।

'यज्ञ' शब्द की मीमांसा—'यज्ञ' शब्द 'यज' धातु से बना है, जिसके विषय में महर्षि पाणिनी 'धातु-पाठ' में लिखते हैं—

यज--देवपूजा संगति करण दानेषु।

(१) देवपूजा—'देव' नाम विद्वानों का सत्कार करना वा दिव्य गुणयुक्त प्राकृतिक पदार्थों (अग्नि, वायु आदि) से यथायोग्य काम लेना वा देवों के परमदेव परमात्मा की पूजा करना।

(२) संगीति करण—एकत्रित करना, वा सम्मेलन करना. विद्वानों से मिलना जुलना, आपस में मिल जुल कर प्रेम पूर्वक रहना, ईश्वर की उपासना करना, जड़ पदार्थों को मिला जुला कर उनसे काम लेना इत्यादि ।

(३) दान—अपनी उत्तम वस्तुओं को दूसरों को देना, वा दूसरों के उपयोग के लिये उपस्थित करना, पर-उपकार करना ।

अतः "यज्ञ" शब्द में वे सारे ही उत्तम कर्म सम्मलित हैं जो मनुष्य मात्र को करने चाहियें । इसी लिये यजुर्वेद में "यज्ञ" के लिये "श्रेष्ठतम कर्म" शब्द आये हैं ॥

पंच महायज्ञ मनुष्यों के कर्तव्य कर्मों का नाम है ।

(क) पहिला महायज्ञ 'ब्रह्म यज्ञ' है । जिस का अर्थ है ऐसा महान कार्य, जिसमे ब्रह्म प्राप्ति हो अथवा जिस कर्म से ब्रह्म नाम वेद विद्या की प्राप्ति हो । अतः ब्रह्मयज्ञ में संध्या और वेद आदि धर्म ग्रन्थों का स्वाध्याय सम्मलित है । (ईश्वर वा ज्ञान प्राप्ति)

(ख) दूसरा "देव यज्ञ' है । जिस का अर्थ है ऐसा महान कार्य, जिस में प्राकृतिक पदार्थों से काम लिया जाता है । (प्रकृति से उपकार लेना)

(ग) तीसरा "पितृ यज्ञ" है । जिस का अर्थ है "पितृ" अर्थात् माता, पिता, गुरू और राजा आदि रक्षकों की सेवा तथा सत्कार करना । (अपने बड़ों की सेवा करके उन्हें प्रसन्न करना और फिर उन से उपदेशादि द्वारा उपकार लेना)

(घ) चौथा 'नृयज्ञ '। अर्थात् मनुष्य मात्र की भोजनादि से यथा योग्य सेवा करना तथा उन से उपकार लेना।

(ङ) पांचवां 'बलिवैश्व देव यज्ञ'—पशुओं को अन्नादि देना और उन से उपकार लेना।

इस से विदित हो जायेगा कि ये पांचों यज्ञ मनुष्य मात्र के कर्तव्य कर्म ही हैं। संसार में नास्तिकों को छोड़ कर ऐसा कौन मनुष्य होगा जो ईश्वर पूजा करना, धर्म ग्रन्थों का विचार पूर्वक अध्ययन करना, प्राकृतिक पदार्थों से यथा योग्य कार्य लेना, माता पिता आदि की सेवा करना मनुष्य मात्र का भोजनादि से उपकार करना, और पशुओं पर दया रखना आवश्यक न समझेगा। सच तो यह है कि जो मनुष्य इन कर्तव्य कर्मों को प्रति दिन नहीं करता, वह मनुष्य कहलाने के योग्य ही नहीं है किन्तु उसे पशु कहना ही उचित है, क्योंकि पशुओं की ही प्रकृति ही ऐसी होती है, कि वे अपना पेट पालन करने के अतिरिक्त और कोई कर्तव्य नहीं समझते। न तो उन्हें ईश्वर से काम है और न अपने बड़ोंकी सेवा से मतलब है। वे प्राकृतिक पदार्थोंसे काम लेना भी नहीं जानते और न उन को दूसरे पशुओं से कोई सम्बन्ध होता है। उनका काम केवल खाना, पीना, सोना और संतान उत्पन्न करना ही है। किसी कवि ने सच कहा है।

आहार, निद्रा, भय, मैथुनंच; समानमेतत् पशुभिर्नराणाम्
धर्मोहितेषामाधिको विशेषो धर्म्मेण हीनः पशुभिः समानाः॥

'(अर्थ) खाना, सोना, डरना और मैथुन करना ये सब बातें मनुष्यों और पशुओं में समान ही हैं। धर्म ही मनुष्यों में विशेष है। इसलिये धर्म हीन मनुष्य पशु के सामान है।

ब्रह्मयज्ञ | हम अभी बता चुके हैं कि ब्रह्मयज्ञमें संध्या और स्वाध्याय सम्मलित है। मनु ने "अध्यापन" अर्थात वेदादि धर्म ग्रन्थों के पढ़ने पढ़ाने का नाम ही ब्रह्मयज्ञ कहा है। वास्तव में वेदादि सत् ग्रन्थों के मनन पूर्वक प्रतिदिन पाठ करने से ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो सकता है। इसी कारण महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने आर्यसमाज के नियमों में वेद का पढ़ना पढ़ाना सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म बतलाया है। जो मनुष्य वेदों को स्वयं न पढ़सकें वह दूसरोंसे ही सुन सुना लिया करें किंतु यह नित्य कर्म है इसका त्याग करना उचित नहीं है। मनु ने "स्वाध्याये नित्य *युक्तः" "वेदादि सत् ग्रंथों के स्वाध्याय में प्रति दिन युक्त अर्थात लगे रहना चाहिये" कहकर स्वाध्याय की महिमा दर्शाई है।

स्वाध्याय का अर्थ | स्वाध्याय शब्द का अर्थ (सु + अध्याय अच्छे प्रकार से अध्ययन करना है। पांच मिनट में ५० वेद मंत्रों को पढ़ जाने से कोई लाभ नहीं हो सकता। चाहे एक दिन में एक ही मंत्र का अध्ययन किया जाय किन्तु उसके एक २ शब्दपर विचार करो, और सोचो कि उस में से क्या उपदेश निकलता है। और उस उपदेश के अनुसार ही अपने जीवन को बनाओ, तभी स्वाध्याय सफल हो सकता है, अन्यथा

*देखो मनु० ३।७५॥

नहीं। वेद मंत्रों के विना समझे केवल पाठ मात्र से कोई लाभ नहीं है। वेद ने स्वयं उपदेश किया है, कि—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्नवेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥

ऋ० १। १६४। ३९॥

अर्थ—ऋचायें उस अविनाशी परम व्यापक परमेश्वर को, जिसमें सब दिव्य गुण युक्त पदार्थ आश्रित हैं, बताती हैं। जो उसे नहीं पहचानता वह केवल वेद पाठ से क्या करेगा। पर जो उसे जान लेते हैं, वे ही यहां जीवन सफल कर लेते हैं।

आशय स्पष्ट है कि वेदों के केवल पाठ मात्र से कोई लाभ नहीं है, किन्तु अर्थ को समझते हुये उस सर्व व्यापक परमात्मा को जिसका वेद उपदेश करते हैं अनुभव द्वारा जान कर जन्म सफल करना चाहिये। अतः प्रति दिन विचार पूर्वक वेद अथवा वैदिक ग्रन्थों का पाठ करना ही स्वाध्याय कहला सकता है केवल मंत्रोंका उच्चारण स्वाध्याय नहीं कहला सकता।

स्वाध्याय का दूसरा भाव स्वाध्याय शब्द का दूसरा अर्थ (स्व + अध्याय) अर्थात् "अपना अध्ययन करना" है। वेदों के उपदेश के अनुसार अपना जीवन बनाने के लिये यह परम आवश्यक है कि मनुष्य प्रति दिन अपने जीवन का अध्ययन करे। अर्थात् विचारे कि उसके जीवन में क्या २ दोष हैं और वह अपने जीवन को किस प्रकार से दोष रहित बना सकता है। वेद में कहा है—

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो ।
वाऽति तृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्धातु ॥

अर्थ—(यत्) यह जो (मे) मेरे (चक्षुषः) आंख का (हृदयस्य) हृदय का (वा मनसः) और मन का (अति तृण्णं) अत्यंत फटा हुआ वा चौड़ा (छिद्रं) छेद है (तत्) उस (मे) मेरे छिद्र वा दोष को (बृहस्पति) ज्ञान का अधिपति परमात्मा (दधातु) ठीक करे ।

अर्थात् मनुष्य को प्रति दिन विचार करना चाहिये, कि उसकी चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों, हृदय और मन में क्या दोष हैं । और फिर ज्ञान के अधिपति परमात्मा से, जो हमारे अन्दर के सब दोषों को अच्छे प्रकार से जानते हैं, प्रार्थना करनी चाहिये, कि "हे प्रभु ! मेरे इन सब (शारीरिक, मानसिक और आत्मिक) दोषों को दूर कर दीजिये । और

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥ यजु० ३० । ३ ॥

अर्थ—हे (सवितादेव) सकल संसार को उत्पन्न करने वाले प्रभु ! (विश्वानि दुरितानि) सारे दुर्गुणों को (परासुव) दूर कर दीजिये, और (यद्भद्रं) जो शुभ गुण, कर्म, स्वभाव हैं (तत्-न-आसुव) वह हमें प्राप्त कराइये" ।

सन्ध्या | भद्र गुण, कर्म, स्वभाव को अपने हृदय में अङ्कित करने और उनके अनुसार अपना जीवन बनाने के लिये यह आवश्यक है,

कि उन बातों को प्रति दिन विचारा जावे वेदों में हजारों मन्त्र हैं. उन में अनेक प्रकार के उपदेश भरे पड़े हैं. और अनेक विद्याओं का वर्णन है। सारे वेद मन्त्रों का विचार पूर्वक अध्ययन प्रति दिन नहीं हो सकता, इसी लिये ऋषियों ने यह शैली निकाली है, कि वेद और वैदिक ग्रन्थों का प्रतिदिन नियम पूर्वक स्वाध्याय करते हुए यह भी आवश्यक है, कि कुछ चुने हुए वेद मन्त्रों का प्रति दिन विचार पूर्वक पाठ किया जावे। इसी कर्म का नाम सन्ध्या है। "सन्ध्या" शब्द का अर्थ भी (सं) उत्तम प्रकार से (ध्यै) ध्यान करना है। अतः वास्तव में चुने हुए वेद मन्त्रों का विचारपूर्वक स्वाध्याय ही सन्ध्या है। इसीलिये महर्षि मनुने "अध्या नं ब्रह्म यज्ञः" अर्थात अध्यापनको ही ब्रह्म यज्ञ कहा है। इसी से समझ में आगया होगा कि मन्त्रों के अर्थों को समझ बिना केवल उनका पाठ कर जाने से कोई लाभ नहीं है। सन्ध्या का कार्य पठन पाठन का कार्य है और जिस प्रकार से मनुष्य अपनी पाठ पुस्तकों के एक २ शब्द को ध्यान पूर्वक समझ २ कर पढ़ता है, उसी प्रकार से सन्ध्या भी प्रतिदिन अर्थों को समझ २ कर और मनन पूर्वक करनी चाहिये। अन्यथा सन्ध्या का करना न करने के समान ही होगा। यदि कोई मनुष्य अङ्गरेजी अथवा किसी दूसरी भाषा के किसी ग्रन्थ को अर्थ समझे बिना ही प्रतिदिन पढ़ता रहे, तो चाहे ग्रन्थ में कैसी ही उत्तम २ ज्ञान की बातें लिखी हुई हों किन्तु उन बातों का कुछ भी ज्ञान प्राप्त न होगा। और प्रत्येक मनुष्य उसे मूर्ख और समय का नष्ट करने वाला ही कहेगा। सन्ध्या के मन्त्रों का भाव समझे बिना प्रति दिन पाठ करना भी इसी प्रकार से मूर्खता का कार्य है; क्योंकि उससे न तो मनुष्य का ज्ञान बढ़ता है, और न जीवन में कोई परिवर्तन

आता है। तीस २ वर्ष तक प्रति दिन संध्या करके भी मनुष्य के जीवन में जो किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं आता, उसका कारण केवल यही है कि संध्या के मंत्रों को उनका भाव जाने बिना ही तोते की तरह रटा जाता है।

पाठक प्रश्न करेंगे, कि जो मनुष्य संस्कृत नहीं जानते क्या वह संध्या न किया करें? इसका उत्तर यह है, कि ऐसे मनुष्यों को भी संध्या प्रति दिन करनी चाहिये, किंतु ऐसे मनुष्यों को उचित है कि संध्या पुस्तक से किया करें, और मंत्रों के साथ २ उनका अर्थ पुस्तक से पढ़ कर उसके अभाव पर अच्छे प्रकार से विचार किया करें। ऐसा करनेसे उन्हें विदित हो जायगा, कि संध्या के मंत्रों में कैसे उत्तम २ उपदेश भरे पड़े हैं! इससे संध्या में मन न लगने की शिकायत भी दूर हो जायेगी मन का काम मनन करना है। जब हम संध्या करते समय मनन करते ही नहीं तो मन लग किस तरह सकता है? हम तो केवल जिह्वासे काम लेते हैं। मनको तो खाली छोड़ देते हैं। फिर यदि वह बेचारा दूसरे कार्यों में लग जाता है, तो यह हमारा ही दोष है, मन का नहीं। अतः चाहे जिस प्रकारसे भी हो, संध्या सदा अर्थों और भावों को समझते हुये विचार पूर्वक ही करनी चाहिये। अन्यथा उससे कुछ लाभ नहीं है।

सन्ध्या का समय और सन्ध्या के लाभ।

"संध्या" शब्द का दूसरा अर्थ मेल वा संयोग है। इसी लिये ऋषियों ने संध्या के लिये "प्रातः काल" और सायं काल दो समय नियत किये हैं, क्योंकि इन्हीं दोनों समयों में दिन और रात्रि वा यूं कहो कि प्रकाश और अंधकार का संयोग होता है। और इसी कारण से यह दोनों काल संधि-वेला कहलाते हैं। मनुस्मृति में लिखा है—

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमर्कदर्शनात् ।
पश्चिमांतुसमासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥

मनु० २ । १०१ ॥

अर्थ—प्रातः काल की संध्या, गायत्री का जप करता हुआ, सूर्य दर्शन होने तक स्थित हो कर, और सायं काल की संध्या नक्षत्र दर्शन ठीक २ होने तक बैठ कर करे ।

पूर्वां सन्ध्यां जपँस्तिष्ठन्नैशमे नोव्यपोहति।
पश्चिमांतु समासीनो मलं हन्तिदिवा कृतम्॥

मनु० २। १०२॥

अर्थ—प्रातः काल की संध्या के जप से रात्रि भर की, और सायंकाल की संध्या से दिन भर की दुर्वासनाओं का नाश होता है ।

इससे स्पष्ट है, कि प्रातः काल की संध्या ब्राह्म मुहूर्त में उठ कर शौच और स्नानादि से निवृत होकर, सूर्य उदय तक करनी योग्य है । और सायं काल की संध्या सूर्यास्त से अच्छे प्रकार नक्षत्र दर्शन तक करनी चाहिये । रात्री के समय जो दुर्वासनायें मन में उत्पन्न हुई हों, उनके संस्कार प्रातःकाल की सन्ध्या से और दिन के समय जो दुर्वासनायें उत्पन्न हुई हों उनके संस्कार सायंकालकी संध्यासे दूरकर देने चाहिये। अर्थात् मनुष्य को उचित है कि जहां तक सम्भव हो मन के ऊपर पाप का धब्बा लगने ही न दे । और यदि किसी समय दिन में वा रात्री में कोई पाप वासना मन में उत्पन्न हो जावे, तो उस धब्बे को संध्या के समय धो डाले—ऐसा न करने से मन के ऊपर होते २ पाप वासनाओं का ऐसा मैल चढ़ जाता है कि फिर उसका शुद्ध करना असम्भव हो जाता है । वेद हमें

बतलाता है कि मनुष्य को अपना मन शुद्ध और पवित्र रखने केलिये जब कभी भी मन में कुविचार उत्पन्न हो उसी समय दृढ़ता पूर्वक कहना चाहिये। कि-

> अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर ।
> परोनिर्ऋत्या आचक्ष्व बहुधा जीवतो मनः ॥
> ऋ० १० । १६४ । १॥

अर्थ—हे (मनसः–पते) मन को पतित करने वाले कुविचार! (अप-एहि) दूर हो । (अप-क्राम) दूर भागो । (परः—चर) परे चले जाओ (परः–निऋ त्याः) दूर के विनाश को (आचक्ष) देखो । (जीवतः–मनः) जीवित मनुष्य का मन (बहु–धा) बहुत सामर्थ से युक्त है।

इस मंत्र स्पष्ट बतलाया गया है कि मन में जब भी बुरे विचार उत्पन्न हों उसी समय उन्हें दृढ़ता पूर्वक परे हटा देवे और बुरे विचारों से भविष्य में होने वाली हानि को सदा विचारता रहे। अर्थात् मन में जब भी कोई बुरा विचार उत्पन्न हो तो उसके अनुसार कर्म न करें . किंतु उन विचारों को तो उसी समय परे हटा देवे और बुरे विचार के मन में आने से मन पर जो कुसंस्कार पड़ा है उसे धो डालने के लिये महर्षि मनु ने प्रातः और सायं काल का समय नियत किया है। दिन भर जो भी कुविचार मन में कभी उत्पन्न हों, उन के संस्कार को सायं काल की संध्या के समय अच्छे प्रकार धो डालें। इसी प्रकार से रात्री के कुविचारों के संस्कारों को प्रात: काल की संध्या से दूर करदे। यहां फिर वही अपने अध्ययन की बात आप के सामने आ उपस्थित होती है। अर्थात संध्या के समय

मनुष्य को अपने मन और इन्द्रियों आदि की खोज करनी चाहिये, कि उनमें आज के दिन या रात्री में पापका कहीं धब्बा तो नहीं लग गया है, और यदि कहीं ऐसा कोई दोष दिखलाई दे तो उसे उसी समय धो डाले और प्रतिज्ञा करे कि मैं अब से यथा सम्भव ऐसा धब्बा लगने न दूंगा। दिन प्रति दिन ऐसा करने से मनुष्य के अन्तःकरण में फिर पाप मय विचार उठने ही बंद हो जाते हैं। और उस का हृदय मंदिर पवित्र हो कर इस योग्य हो जाता है, कि उसमें परमात्म देव के दर्शन हो सकें।

प्रातः काल और सायंकाल कालका समय संध्याके लिये नियतकरने का एक और भी कारण है। और वह यह है, कि गृहस्थियों के लिये यही दो समय ऐसे हैं, जब कि वह गृहस्थ के झमेलों से छुटकारा पाये हुये होते हैं। प्रातः काल पलंग से उठते ही आवश्यक कर्मों से निवृत होकर, दुनियां के धंधों में हाथ डालने से पहिले ही मनुष्य ध्यानावस्थित हो सकता है। उसके पश्चात जब वह गृहकार्य्यों में फंस जाता है तो फिर उसके लिये उन कार्यों से मन को हटा कर ईश्वर के ध्यान में लगाना असम्भव हो जाता है। सायंकालके समय वह फिर सारी चिंताओं को परे फेंक कर ईश्वर के ध्यान में मग्न हो सकता है। इसी प्रकार के सुभीते को सोच कर मनु महाराज ने गृहस्थों के लिये संध्या के ये दो ही समय नियत किये हैं। किंतु यदि कोई मनुष्य विशेष कारण से ऊपर लिखित नियत समयों पर संध्या न कर सके तो उसे जिस समय भी अवकाश हो और सब प्रकार के झमेलों को परे फेंक कर ध्यानावस्थित हो सके, संध्या कर लेनी चाहिये। क्योंकि न करने से करना अच्छा ही है। पर नियमानुकूल जो कार्य किया जाता है, उस से अधिक लाभ

होता है। प्रातः काल और सायंकालका समय अति रमणीय होने के कारण भी ईश्वर का ध्यान लगने में सहायक है।

संध्या कहां करनी चाहिये ? संध्या अकेले करनेका कार्य है। इसी लिये एकान्त स्थान में, जहां की वायु शुद्ध हो, करनी उचित है। संध्या में प्राणायाम भी करना होता है, इसलिये शुद्ध वायु का विचार रखना अत्यन्त आवश्यक है। रात भर की घुटी हुई और कारबानिक एसिड गैस (carbonic acid gas) से मिश्रित घर की वायु में प्राणायाम करने से लाभ की जगह उलटी हानि ही होती है। इसी कारण मनु ने बतलाया है कि—

> अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः।
> सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाश्रितः॥
>
> मनु० २। १०४॥

अर्थ—जंगल में जाकर, जल के समीप बैठ कर नित्यकर्म, से निवृत्त होकर, एकाग्र चित्त से गायत्री का जाप(सन्ध्या) करे ।

अतः सिद्ध हुआ कि ४ बजे ब्राह्म मुहूर्त में उठ कर, जंगल में किसी नदी वा तालाब के किनारे चला जावे, वहीं शौचादि नित्य कर्म से निवृत्त होकर स्नान करे, और जल के किनारे बैठ कर सन्ध्या करे। आजकल घर में शौच जाने की कुप्रथा चल निकली है। यह स्वास्थ्य के लिये अत्यन्त हानिकारक है। क्योंकि इससे मलके हानिकारक परमाणु घर और गली की वायु में मिल जाते हैं, और फिर हमारे श्वास के साथ फेफड़ों में जाकर हानि पहुंचाते हैं। प्रातःकाल जंगल में शौचादि के लिये निकल जाने से जहां घर की वायु शुद्ध रहती है वहां वायु सेवन

भी हो जाता है, शुद्ध और खुले जल में स्नान भी हो जाता है और सन्ध्या में भी खूब मन लगता है। घर में बैठ कर बच्चों की हाय २ में मन को एकाग्र करना अति कठिन होता है ॥

परन्तु बड़े २ नगरों में शौच और सन्ध्या आदि के लिये प्रतिदिन बाहर जाना कठिन है। ऐसी अवस्थामें घरमें ही सन्ध्या आदिके लिये कोई ऐसा स्थान नियत कर लेना चाहिये जहां शुद्ध वायु और सूर्य्य का प्रकाश खुला प्रवेश कर सके और बच्चों का शोर व गुल भी वहां न पहुंचे। यदि कोई ऐसा एकान्त और खुला कमरा न हो, तो बाहर चौक वा छत के ऊपर बैठ कर ही सन्ध्या करनी उचित है। भाव यह है कि खुली वायु, सूर्य का प्रकाश और एकान्त सन्ध्या के लिये अति आवश्यक हैं। इसके साथ ही सन्ध्या का स्थान शुद्ध, रमणीय और सुसज्जित भी हो। परन्तु किसी ऐसी विशेष सजावट की आवश्यक्ता नहीं है, जो मन को ध्यान से हटा कर अपनी ओर आकर्षित करले।

आसन बैठने के लिये एक शुद्ध और नर्म आसन होना चाहिये। बैठने के भी अनेक प्रकार हैं। जिस आसन से मनुष्य घंटे डेढ़ घंटे आराम* के साथ बैठ सके वही आसन उत्तम है। हमारी सम्मति में पद्म आसन से बैठना अच्छा है। सिर के बाल भी यदि बड़े हों तो अच्छे प्रकार से बांध लेने चाहियें ताकि मुख के सामने आकर ध्यान में विघ्न पैदा करें।

* स्थिर सुखमासनम्, योग० २। ४६॥ (अर्थ) जिस में स्थिर सुख हो वह आसन है॥

आर्य और अनार्य सब को संध्या करनी चाहिये

लोग कहा करते हैं कि आर्यों को नित्य प्रति संध्या करनी चाहिये। पर मैं कहता हूं कि आर्य्य और अनार्य सब ही को सन्ध्या करनी उचित है। आर्यों को इस लिये कि उनका आर्यत्व स्थिर रहे। और अनार्य्यों को इस लिये कि वे आर्य्यत्व प्राप्त कर सकें। यहां आर्यों से मेरा अभिप्राय उन लोगों से नहीं है जो केवल आर्य्यसमाज के रजिस्टर में अपना नाम लिखा कर अपने आप को आर्य्य कहाने लगते हैं। किन्तु आर्य्य * श्रेष्ठ पुरुषों को कहते हैं और दुष्ट मनुष्य अनार्य्य या दस्यु (दुष्ट) कहलाते हैं। दुष्टों के स्वभाव के विषय में वेद कहता है-

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र ॥

ऋ० ७। १०४। २२॥

अर्थ—(उलूक-यातुं) उल्लू के समान, (अर्थात् मूर्ख लोग) उल्लू जिस प्रकार से प्रकाश से भागता है उसी प्रकार से जो मनुष्य ज्ञान की रोशनी से भागते हैं, (शुशुलूक-यातुं) भेड़िये के समान क्रूर मनुष्य, (श्वयातुं) कुत्ते के समान अपने भाइयों से लड़ने वाले और दूसरों के सामने पूंछ हिलाने वाले मनुष्य, (कोक-यातुं) चिड़ियों के समान अत्यंत कामी पुरुष, (सुपर्ण-यातुं) गरुड के समान घमंडी और अहंकारी मनुष्य, (गृध्र-यातुं) गीध के समान लोभी, दूसरे के मांस पर स्वयं

* जैसे आर्य्य श्रेष्ठ और दस्यु दुष्ट मनुष्यों को कहते हैं वैसे ही मैं भी मानता हूं। (स्वामी दयानन्द सरस्वती)

पुष्ट होने को इच्छा रखने वाले जो दुष्ट मनुष्य हैं। हे (इन्द्र) राजन! उनको दमन करो और उन दुष्टों से सब श्रेष्ठ पुरुषों की रक्षा करो।

इस प्रकार के जो अनार्य्य (दुष्ट) पुरुष हैं। यदि वे प्रति दिन प्रातः सायं संध्या करने लगें, तो वे अपने जीवन को सुधार के सच्चे आर्य्य (श्रेष्ठ) पुरुष बन सकते हैं। श्रेष्ठ पुरुषों के सम्बंध में वेद कहता है—

वैश्व देवीं वचस आरभध्वं शुद्धाभवन्तः शुचय पावकाः।
अति क्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्व वीरा मदेम॥
अथर्व॰ १२। २। २८

इस मंत्र में यह बतलाया गया है, कि जो मनुष्य अन्दर और बाहर से शुद्ध और पवित्र हो, और जिसने दुरित अर्थात् दुष्ट भावों को परे हटा दिया हो, और सब वीर भावों से युक्त हो वही मनुष्य श्रेष्ठ कहलाने के योग्य है।

संध्या के मंत्रों का अर्थ और व्याख्या पढ़ने से विदित हो जायेगा, कि संध्या के मंत्रों का विचार पूर्वक प्रति दिन पाठ करने से मनुष्य दुष्टता को त्याग कर शुद्ध, पवित्र और वीर भावों से युक्त हो सकता है। और सर्व प्रकार की श्रेष्ठता प्राप्त करके सच्चा आर्य्य कहलाने के योग्य हो सकता है। क्योंकि संध्या के मंत्रों में सब प्रकार की श्रेष्ठता के भाव भरे पड़े हैं। आचमन मंत्र आलस्य को दूर करता हुआ शांत स्वभाव बनाने की शिक्षा ही नहीं देता, किन्तु साथ ही उपाय भी बतलाता है। इन्द्रिय स्पर्श का मंत्र जहां हमें अपने शरीर को पुष्ट बनाने की शिक्षा देता है,

वहां उससे यशस्वी कर्म करने का भी आदेश करता है। "मार्जन मंत्र" में पवित्रता का भाव भरा पड़ा है। "प्राणायाम मंत्र" शुद्ध वायु में गहरे श्वास लेने से हमारे स्वास्थ को सुधारता हुआ, परमात्मा और आत्मा के अनेक गुणों का चिन्तवन कराता है। "अघमर्षण मंत्र" ईश्वर की अनंत शक्ति का नक़शा आंखों के सामने खैंचते हुये हमें पाप कर्मों से बचाता है। "मनसा परिक्रमा" के ६ मंत्र परमात्मा को रक्षक बताते हुए, हमें अभय दान दे रहे हैं। "उपस्थान मंत्र" हमारा आसन ईश्वर के समीप ही जा लगाते हैं। और "गायत्री मंत्र" हमारी बुद्धियों को श्रेष्ठ मार्ग पर प्रेरित करता है।

अतः जिस संध्या में श्रेष्ठता का भाव उत्पन्न करने वाले इतने मंत्र मौजूद हों, क्या उसका विचार पूर्वक प्रति दिन पाठ करने से मनुष्य के हृदय में दुष्टता कहीं छिपी रह सकती है ? इसी कारण से तो मनु ने संध्या करना इतना आवश्यक बतलाया है। वह लिखते हैं।

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्तेयश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवत् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विज कर्मणः ॥

मनु० २। १०३ ॥

अर्थ—जो प्रातः काल की संध्या न करे, और जो सायं काल की भी संध्या न करे वह सम्पूर्ण द्विजों के कर्म से शूद्रवत् बहिष्कार्य है।

मनु के ऐसा कहने का कारण यही है कि जो मनुष्य संध्या नहीं करता, उसके अन्दर उच्च वासनायें उत्पन्न नहीं होतीं।

संध्या श्रद्धा पूर्वक करनी चाहिए।

एक बात और भी आवश्यक है, और वह यह है, कि संध्या दोनों समय श्रद्धा पूर्वक की जावे केवल दुनियां दिखावे के लिये संध्या करने से कोई लाभ न होगा।

देखो इस विषय में वेद क्या कहता है—

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यं दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धा पयेहनः ॥

ऋ० १० । १५१ । ६ ॥

अर्थ—प्रातः काल श्रद्धा से [संध्या अग्निहोत्र आदि] कर्म करते हैं, और उसी प्रकार मध्य दिन में [सांसारिक कार्य करते हैं] और सूर्य के अस्त होने के समय में भी श्रद्धा से ईस्वर की भक्ति करते हैं। हे श्रद्धे ! हम सब को श्रद्धा युक्त करो।

इस से स्पष्ट है कि मनुष्य को इह लौकिक वा पारलौकिक सब प्रकार के कर्म श्रद्धा पूर्वक ही करने चाहियें कारण कि जो कर्म अश्रद्धा से किया जाता है वह पूरे मन से नहीं किया जाता। इस लिये उसमें सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। अतः मनुष्य को सन्ध्या पूर्ण श्रद्धा और भक्ति से ही करनी उचित है तभी कल्याण होगा अन्यथा नहीं।

संध्या से आयु बढ़ती है। महाभारत में लिखा है —

ऋषयो नित्य सन्ध्यत्वात् दीर्घमायुरवाप्नुवन।

॥ महा० अनु १०४ ॥

अर्थ—नित्य प्रति संध्या करने से ऋषियों को दीर्घ आयु प्राप्त हुई। और यह बात संध्या की व्याख्या पढ़ने से स्पष्ट होजायगी कि संध्या से आयु कैसे बढ़ती है।

संध्या के मंत्रों की व्याख्या आरम्भ करने से पहिले हम यह भी बतलाना आवश्यक समझते हैं कि हमने जहां तक विचार किया है, स्वामी दयानंद सरस्वती जी महाराज ने जो संध्या हमारे सामने रक्खी है। वह अपने आप में पूर्ण हैं, उसमें किसी प्रकार की त्रुटि नहीं है। यह शब्द लिखने की आवश्यकता हमें इस लिये पड़ी है क्योंकि अनेक महानुभावों ने संध्या के आचमन मंत्र से पहिले कुछ और विधियां भी बढ़ा दी हैं। पूज्य पाद श्री सातवलेकर जी ने अपनी पुस्तक संध्योपासना में हवन यज्ञ में लिखे हुये आचमन और इन्द्रियस्पर्श के मंत्र बढ़ा दिये हैं। परन्तु जब स्वयं संध्या में ये दोनों क्रियायें करने के लिये मंत्र मौजूद हैं तो पता नहीं चलता कि इन क्रियाओं को दो बार करने की क्या आवश्यकता है। सम्भव है इसमें कोई रहस्य हो, पर अभी तक हमारी समझ में कुछ नहीं आया है, अतः हमारी समझ में संध्या "शन्नो देवी" इस मंत्र से ही आरम्भ होती है॥

॥ ओ३म् ॥

सन्ध्या

(१) आचमन मन्त्रः ।

सब से पहिले निम्न लिखित मन्त्र बोल के तीन आचमन करे ।

ओ३म् शन्नो देवी रभिष्टय आपो भवन्तु पीतये शंयो रभिस्रवन्तु नः ॥

यजु० ३६ । १२ ॥

शाब्दिक अर्थ—(देवी आपः) दिव्य गुण युक्त और सर्व व्यापक ईश्वर । (नः) हमारी (अभिष्टये) मनोवाञ्छित (पीतये) तृप्ति वा आनन्द के लिये (शम्) शांति दाता (भवन्तु) हो और (नः) हम पर (शंयोः) १ शान्ति (अभिस्रवन्तु) सब ओर से चुवे ।

भावार्थ—हे दिव्य गुण युक्त सर्व व्यापक ईश्वर ! हमें शान्ति प्रदान कीजिये ताकि हम मनोवाञ्छित आनन्द प्राप्त कर सकें और हमारे हृदय में सब ओर से शान्ति चूने लगे । किसी ओर से भी अशान्ति न रहे ॥

शंयो १—शमनं च रोगाणां पावनं च भयानाम्

व्याख्या
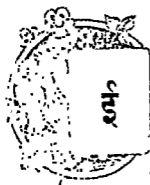
ईश्वर भक्त सन्ध्या करने के निमित्त बैठता है। वह अभी गृह कार्य से निवृत्त हुआ है, इस लिये उसके मन में अनेक प्रकार की संकल्प विकल्प रूपी लहरें उठ रही हैं। उसका मन न मालूम किधर का किधर दौड़ा फिर रहा है। जिस प्रकार से आंधी आने पर समुद्र के पानी में बड़ी २ लहरें उठने लगती हैं और आंधी के बन्द हो जाने पर भी ये लहरें शान्त नहीं हो जातीं किन्तु उसके पश्चात् भी घण्टों तक पानी में हलचल मची ही रहती है वैसी ही अवस्था हमारे मन की है। दुनियां के कारोबार की आंधी [अथवा उन विचारों] से जब मन में एक बार क्षोभ उत्पन्न हो जाता है, तो उस आँधी के समाप्त होने पर भी मन का क्षोभ एक दम दूर नहीं हो जाता किन्तु उसके अन्दर अनेक प्रकार के विचारों की लहरें उठती ही रहती हैं। आज मैंने यह किया वह किया। कल मैं यह २ कार्य करूंगा। मन की तो यह अवस्था है। हम उसे ध्यान में कैसे लगावें ? इस लिये सन्ध्या आरम्भ करने से पूर्व हमारे अन्दर यह कामना उत्पन्न होनी स्वाभाविक ही है, कि हमारा मन शान्त हो तो उसे सन्ध्या में लगाया जावे। इसी लिये सब से पहिले इसी प्रकार के मन्त्र का उच्चारण करना आवश्यक है, जिस में इस प्रकार के भाव पाये जावें और उसके भाव को समझ कर मन को शान्त करने की चेष्टा करनी चाहिये। उसके पश्चात् सन्ध्या हो सकती है अन्यथा नहीं॥

दुःख सुख और शांति —शांतिका क्या भावहै ? यहभी समझना आवश्यक है। हमारी तीन अवस्थायें हैं, दुखी, सुखी और शांत। बहुत

से लोग सुख और शांति में भेद नहीं समझते । जिसे आप सुख कहते हैं वह भी वास्तव में मन का एक विकार है । जब मन सुख की अवस्था में होता है, तब भी उसमें क्षोभ उत्पन्न होता है । और ऐसे मन को भी हम किसी विचार में लगा नहीं सकते । इस बात को यूं समझो---तुमने पानी में उठती हुई लहरों को देखा है वह इस प्रकार की होती हैं। अर्थात् प्रत्येक लहर की एक चोटी होती है और दो लहरों के बीच में एक गली होती है । चोटी पर का जल ऊपर को और गली का नीचे को गति करता है । गली को दुःख और चोटी को सुख समझो । कारण यह कि सुख की अवस्था में मन ऊपर को उछलता है, और दुःख की अवस्था में नीचे को बैठता है । क्या सुना नहीं, दुखी मनुष्य कहता है "मेरा मन बैठा जाता है" । सुख की अवस्था में कहते हैं कि "उसका मन आनन्द के मारे बल्लियों उछलने लगा" । अतः दुख हो वा सुख हो, दोनों अवस्थायें मन के अन्दर क्षोभ और चंचलता उत्पन्न करने वाली हैं । लहरों के समान यह दोनों अवस्थायें भी स्थिर रहने वाली नहीं हैं, किन्तु सदा बदलती रहती हैं । एक क्षण में मन सुख अनुभव करता है तो दूसरे ही क्षण में दुःखी हो जाता है । सुख और दुःख एक दूसरे के आगे पीछे चलते हैं । असम्भव है कि सुख के पीछे दुःख और दुःख के पीछे सुख प्राप्त न हो । किसी कवि ने कहा है ।

दुःखस्यानन्तरं सुखम्, सुखस्यानन्तरं दुःखम् ।
चक्रवत् परिवर्तन्ते, दुःखानि च सुखानि च ॥

अर्थात् दुःख के पश्चात् सुख और सुख के पश्चात् दुःख आता है दुःख और सुख चक्र के समान घूमते रहते हैं ।

किन्तु शान्ति की अवस्था ही निराली है। वह जल की उस अवस्था के समान है जब कि उस में किसी प्रकार की चंचलता नहीं होती। मन भी जब शान्त हो जाता है तब उसकी अवस्था ऐसी ही हो जाती है। वह न ऊपर को उछलता है न नीचे को डूबता है। वह न सुख का अनुभव करता है, न दुःख का। ऐसा शान्त मन ही ध्यान में लगाया जा सकता है। जिस प्रकार से मनुष्य शान्त जल में अपना मुख देख सकता है अशान्त में नहीं, उसी प्रकार से शान्त मन ही प्रभु दर्शन के योग्य है अशान्त नहीं। इसलिये सब से पहले इस मन्त्र में शान्ति की कामना की गई है जो युक्ति युक्त × ही है।

मनोवाञ्छितआनंद—अब मनो वांछितआनन्द के विषय में थोड़ा सा कहना है हमारा मन वेद मन्त्रों के गूढ़ अर्थों वा ईश्वर के विचार में मग्नहोना चाहता है। जब मन किसी विचार में पूर्ण रूप से लग जाता है, तो उस समय जो आनन्द प्राप्त होता है, वह + अनिर्वचनीयहै। उस आनन्दको वही मनुष्य अनुभवकर सकते हैं. जिन को कभी यह अवस्था प्राप्त हुई हो। जब मन की यह अवस्था हो जाती है, तो फिर मनुष्य को अपने शरीर की सुध बुध भी नहीं रहती ।। इसी अवस्था की पूर्णता का नाम

× इसी लिये हम कहते हैं कि सन्ध्या का आरम्भ इसी मन्त्र से है। इस से पहले कोई क्रिया नहीं है।

+ किसी कवि ने क्या अच्छा कहा है—"तुम्हारी कृपा से जो आनन्द पाया, वाणी से जावे वह क्यों कर बताया।"

समाधि है । समाधि योगियों को ही प्राप्त हो सकती है, क्यों कि मन की वृत्तियों का पूर्ण रूप से योगी ही निरोध कर सकते हैं "योगश्चित्त वृत्ति निरोध" मन की वृत्तियों को रोक कर उसे पूर्ण शान्त करने का नाम ही योग है । अतः इसी आनन्द की प्राप्ति के लिये मन को शान्त करने की आवश्यकता है । और मन जितना अधिक शान्त होता है, उतना ही सन्ध्या में अधिक आनन्द प्राप्त होता है ॥

वैदिक प्रार्थना वैदिक धर्म में केवल जिह्वासे प्रार्थना कर छोड़ने से कोई लाभ नहीं होता किन्तु जिस मतलब की सिद्धि के लिये प्रार्थना की जाती है, उसकी प्राप्ति के लिये उपाय भी करना चाहिये । किसी अभीष्ट की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करना वास्तव में उसकी प्राप्ति की उत्कट इच्छा मन में उत्पन्न करना और परमात्मा से उस कार्य के करने के लिये बल माँगना है । इससे मानसिक बल प्राप्त होता है । किन्तु यदि कोई मनुष्य केवल प्रति दिन प्रार्थना ही कर छोड़े और उसके लिये उपाय न करे तो अभीष्ट सिद्धि असम्भव है ॥ ईश्वर के सामने विजय के लिये गिड़गिड़ाने और तलवार सिरहाने रख कर सो जाने से विजय लाभ नहीं हो सकता । इसी लिये प्रत्येक प्रार्थना के साथ उपाय आवश्यक है । अतः जहां शान्ति के लिये इस मंत्र द्वारा प्रभु से प्रार्थना की गई है उस के साथ ही मन को शान्त करने का उपाय भी करना आवश्यक है । और वह उपाय भी यह मंत्र ही बतलाता है । जैसा कि इस मंत्र के दूसरे अर्थ पर विचार करने से प्रगट होगा ।

मंत्र का दूसरा अर्थ (देवी आप:) दिव्य गुण युक्त जल (न:) हमारी (अभीष्टये पीतये) मनोवांछित तृप्ति वा आनन्द के

लिये (शम्) शान्ति देने वाला (भवन्तु) हो और (नः) हम पर (शंयोः) ✽ शांति (अभिस्रवन्तु) चुवाये ।

"आप": शब्द का अर्थ जल भी है और ईश्वर भी । जल अर्थ तो इस का प्रसिद्ध ही है । ईश्वर अर्थ में वेद का निम्नलिखित प्रमाण देखियेः—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रन्तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥

यजु० ३२ । १ ॥

अर्थ—वह परमात्मा अग्नि, वही आदित्य, वही वायु, और वही निश्चय से चंद्रमा है । वही शुक्र, वही ब्रह्म, वही आपः और वही प्रजा-पति है ।

शांति का उपाय देखो "आपः" शब्द कैसा विचित्र है ! एक ही शब्द से ईश्वर से प्रार्थना भी हो गई और उसके सम्बन्ध में उपाय भी बतला दिया गया । इस मंत्र के दूसरे अर्थ से स्पष्ट होगया कि मन को शांत करने के लिये जल का प्रयोग करना चाहिये । इसी लिये जल से तीन आचमन करने का विधान है ॥ तीन का तात्पर्य यह है कि तीनों प्रकार की अर्थात शारीरिक, मानसिक और आत्मिक अशांति दूर हो जावे । इसलिये इन्हीं भावों को विचारते हुये तीन आचमन करने चाहिये । जल में शांत करने का गुण प्रगट ही है । स्नान करने से सारी थकावट और घबराहट दूर होकर शरीर में शांति उत्पन्न होती है । और आचमन करने वा कुछ जल पी लेने से मन के वेग (क्रोधादि) शांत हो जाते हैं ।

✽ २-शमनं च रोगणां यावनं च भयानाम् ।

वेद कहता है—

आपो हिष्ठा मयो भुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे

॥ ऋ० १० । ९ । १॥

अर्थ—(आपः) जल (हि) निश्चय से (मयोभुवः) सुहावना करने वाले (स्थ) हैं। (ताः) वे जल (नः) हम सब के लिये (ऊर्जे) बल (महे) तेज (रणाय) फुर्ती (चक्षसे) ज्ञान (दधातन) धारण करते हैं ॥

अर्थात् जल के प्रयोग [स्नानादि] से शरीर की थकावट आदि दूर हो कर सुख प्राप्त होता है। और उससे शरीर में बल और तेज उत्पन्न होता है। सुस्ती दूर होकर शरीर फुर्तीला हो जाता है और विचार शक्ति बढ़ जाती है।

जल के विषय में वेदों में अनेक मन्त्र हैं, जिनमें जल के अनेक दिव्य गुणों का वर्णन है। इसलिये इस मंत्र में जल को 'देवी'—दिव्य गुणों वाला कहा गया है। जल में ही तृप्त और शान्त करने के गुण हैं, इसलिये ईश्वर भक्तों के लिये संसार में जल ही पीने योग्य पदार्थ है। भंग, चाय, + शराब आदि तमाम वस्तुएं उत्तेजक होने के कारण मन

+ चाय पीने का रिवाज दिन प्रति दिन बढ़ता जाता है, यह बहुत बुरा नशा है। बहुत से आर्यसमाजी भी चाय पीते हैं। केवल इतना ही नहीं किन्तु जब किसी समाज का प्रधान वा कोई और उच्च अधिकारी बदलने लगता है तो आर्य समाजी उससे अपना प्रेम प्रगट करने के लिये समाज मन्दिर में चाय पार्टी (Tea party) भी देने में संकोच नहीं करते। समाजी भाइयों को यह पश्चिमी प्रथा बन्द कर देनी चाहिये, वा ऐसे समय दुग्ध पार्टी (Milk party) दे सकते हैं।

के वेग को बढ़ाती हैं इस लिये ऐसे पदार्थों का उपयोग करते हुए सन्ध्या के समय यह आशा रखना कि मन शांत हो जावे, और सन्ध्या में लग जावे, निरर्थक ही है।

आचमन करने की रीति और उसके अनेक लाभ हथेली के बीच में जो गढ़ा है उसमें पानी भर कर अंगुष्ठ के मूल और मत्स्य रेखा के मुख्य स्थान से आचमन करना चाहिये। जल को दोनों होठों से खैंच कर धीरे २ आचमन करना उचित है। इससे कण्ठ शीतल हो जाता है और इस लिये प्यास भी शांत हो जाती है। गले में कुछ कफ़ होना है तो जल के स्पर्श से वह भी निकल जाता है। और गला साफ़ हो जाता है। जिससे मन्त्रों का उच्चारण भी ठीक होता है। श्री पं० सातवलेकर जीने आचमन के निम्न लिखित लाभ लिखे हैं—

(१) आचमन शरीर की उष्णता को सम प्रमाण में लाता है।

(२) जठर की प्रसन्नता होती है और क्षुधा प्रदीप्त होती है।

(३) उच्च स्वर से बोलना सुगम होता है।

(४) कफ़ विकार हटता है।

(५) ज्वर से बीमार होने की अवस्था में अनेक बार आचमन करने से बहुत लाभ होते हैं। बहुत से ज्वर के कष्ट शांत होते हैं।

(६) पित्त विकार का शमन होता है।

(७) शौच की शुद्धि होती है। बद्धकोष्ठता दूर होती है

इसके अतिरिक्त आचमन के अनेक लाभ हैं। परन्तु सब का उल्लेख यहां नहीं किया जा सकता। इतना समझ लीजिये कि साधारण शुद्ध शीत जल का आचमन एक विलक्षण दवाई है जो अनेक रोगों को शान्त करती है।

—०—०—

(२) इन्द्रिय स्पर्शः

ओं वाक् वाक् । ओं प्राणः प्राणः । ओं चक्षुः चक्षुः । ओं श्रोत्रम् श्रोत्रम् । ओं नाभिः । ओं हृदयम् । ओं कण्ठः । ओं शिरः । ओं बाहुभ्याम् यशो बलम् । ओं करतल करपृष्ठे ।

अर्थ—हे (ओं) परमात्मान् ! (वाक् वाक्) मेरी वागेन्द्रिय और वाक् शक्ति (यशो बलम्) यश और बल को प्राप्त हो। (प्राणः प्राणः) मेरी प्राण शक्ति और नासिका, फेफड़े आदि श्वास लेने की इन्द्रियां यश और बल को प्राप्त हों। (चक्षु चक्षु) मेरी आंखें और मेरी दृष्टि [देखने की शक्ति] यश और बल को प्राप्त हो। (श्रोत्रम् श्रोत्रम्) मेरे कान और सुनने की शक्ति यश और बल को प्राप्त हो। नाभि) मेरी जननेन्द्रिय यश और बल को प्राप्त हो। (हृदयम्) मेरा हृदय यश और बल को प्राप्त हो । (कंठ.) मेरा कंठ यश और बल को प्राप्त हो। शिर) मेरा सिर यश और बल को प्राप्त हो (बाहुभ्यां) मेरी दोनों बाहें यश और बल को प्राप्त हों। (करतल करपृष्ठे) मेरी हथेली और हाथ की पीठ दोनों यश और बल को प्राप्त हों।

व्याख्या

किसी ने सच कहा है, कि स्वस्थ मन स्वस्थ शरीर में रहता है। (A sound mind in a sound body) इसी लिये प्रथम मंत्र से आचमन द्वारा मनको शांत करने के पश्चात् सब से पहिले अपने शरीरके प्रत्येक अंग की पड़ताल करनी चाहिये, कि किसी अंग में किसी प्रकार की निर्बलता तो छुपी हुई नहीं है। और जहां कहीं भी किसी प्रकार की निर्बलता दृष्टि गोचर हो, उसे दूर करनेका प्रयत्न करना *चाहिये क्योंकि इस संसार में निर्बलता पाप है, और इसलिए आर्यतत्व के विरुद्ध हैं यहां तो बलवानों का राज्य है। निर्बलों को तो कोई जीने भी नहीं देता। सब धर्म कार्य भी शरीर से ही होते हैं, इसलिये मनुष्य को अपनी शारीरिक पुष्टि का सदा ध्यान रखना चाहिये। "आर्य" का अर्थ श्रेष्ठ है, और श्रेष्ठता हर प्रकारकी ही होनी चाहिये। शारीरिक, मानसिक और आत्मिक। जिस मनुष्य में किसी प्रकार की निर्बलता पाई जाती है,

---

* चरकाचार्य्य अपनी शिक्षा में लिखते हैं।

सर्वमन्यत् परित्यज्य शरीरमनुपालयेत्।
तदभावेहि भावानां सर्वभावः प्रकीर्तितः॥

अर्थ—और सब को छोड़कर प्रथम शरीर की उन्नति करे, क्योंकि बिना शरीर की उन्नति के और सब का अभाव है।

वह पूर्णरूप से आर्य अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष नहीं कहला सकता। इसीलिये वेद में यह प्रार्थना आई है—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि॥
बलमसि बलंमयि धेहि। ओजोऽस्योजो मयि धेहि॥
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि॥

यजु० १९।९

अर्थ—हे परमात्मन्! आप तेजस्वी हैं, मुझे तेजस्वी बनाइये। आप वीर्यवान हैं, मुझे भी वीरता प्रदान कीजिये। आप बल स्वरूप हैं, मुझे बल दीजिये। आप ओजस्वी (सामर्थ्ययुक्त) हैं, मुझे भी ओज (सामर्थ्य) प्रदान कीजिये। आप (मन्यु) दुष्टों पर क्रोध करने वाले हैं, मुझे भी ऐसा बनाइये कि दुष्टों पर क्रोध कर सकूं। आप सहन शक्ति से युक्त हैं, मुझे भी ऐसा बनाइये कि धर्म मार्ग में यदि कोई आपत्ति सहनी पड़े तो मैं उसे सहन कर सकूं और घबडा न जाऊं।

इस से स्पष्ट है कि आर्य्य वा श्रेष्ठ पुरुष वही कहला सकता है, जो तेजस्वी, वीर्यवान्, बलवान्, सामर्थ्य वाला, दुष्टों पर क्रोध करने वाला और सब प्रकार की आपत्तियों को सहन करने वाला हो। निर्बल, निर्वीर्य, तेज हीन, डरपोक और आपत्ति के समय घबड़ा जाने वाला मनुष्य आर्य नहीं कहला सकता।

मनस्त आप्यायतां, वाक्त आप्यायतां, प्राणस्त आप्यायतां, चक्षुस्त आप्यायतां, श्रोत्रं त आप्यायताम्॥

यजु० ६।१५

अर्थ—तेरी मनन शक्ति की वृद्धि हो, तेरी वक्तृत्व शक्ति विकसित हो, तेरी प्राण शक्ति बढ़ जावे, तेरी दृष्टि उन्नत हो, तेरी श्रवण शक्ति प्रभावशाली हो।

इस मन्त्र द्वारा परमात्मा हमें उपदेश देते हैं, कि हे मनुष्य! यदि तेरी इच्छा तेजस्वी, वीर्यवान् और बलवान बनने की है, तो तू अपनी प्रत्येक शक्ति की उन्नति का उद्योग किया कर।

इन्हीं बातों का ख्याल करके संध्या के दूसरे मंत्र * में शारीरिक शक्तियों के बलवान बनाने के लिये प्रार्थना की गई है॥

संध्या के इस मंत्र में बल के अतिरिक्त यश के लिये भी प्रार्थना की गई है अर्थात् कहा गया है, कि हे परमात्मन् मेरी प्रत्येक इंद्रिय केवल बल को नहीं, किंतु यश को भी प्राप्त हों। मंत्र में यश का शब्द पहिले आया है, और बल का पीछे। जिस से यह भी स्पष्ट होता है, कि यश बल से भी अधिक आवश्यक वस्तु है। या यूं कहो कि यश साध्य है और बल उसका साधन है। क्योंकि बिना बल के यश प्राप्त हो ही नहीं सकता। वेद में लिखा है—

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशा सोमो अजायत।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः॥

अथर्व ६। ३९ ३॥

---

* वास्तव में इंद्रिय स्पर्श और मार्जन मंत्र वेद के मंत्र नहीं हैं किंतु अनेक वेद मंत्रों से चुने हुये वाक्य हैं। पर "मंत्र" शब्द का अर्थ उपदेश (advice) है, इसी अर्थ में हम इन्हें भी मंत्र कह सकते हैं।

अर्थ—(इन्द्रः) सूर्य (यशाः) यशस्वी, (अग्निः यशा) अग्नि यशस्वी और(सोम) चंद्रमा (यशाः) यशस्वी (अजायत) पैदा हुआ है ।। (विश्वस्य भूतस्य) सारे प्राणि (यशाः) यशस्वी हैं। (अहम्) मैं [यशस्तमः] अत्यन्त यशस्वी [अस्मि] हूं ।

इसका तात्पर्य यह है कि संसार का प्रत्येक पदार्थ यशस्वी पैदा किया गया है। परमात्मा स्वयं यशस्वी हैं। जैसा कि यजुर्वेद में लिखा है—" यस्य नाम महद् यशः—" यजु० ३२ । ३ ॥ अर्थात परमात्मा का नाम बड़ा यश है। उनके बनाये हुए सब पदार्थ भी यशस्वी हैं। और मनुष्य अत्यंत यशस्वी बनाया गया है, अतः मनुष्य को सदा यश प्राप्त करने का यत्न करना चाहिये॥ श्रेष्ठ कर्मों के करने से ही यश प्राप्त होता है, मंद कर्मों से नहीं वीरता को ही लीजिये, एक क्षत्रिय अपने देश और जाति की रक्षा के लिये वीरता से युद्ध करता है, तो दिगान्तर में उसका यश फैल जाता है किन्तु एक डाकू डाका डालते समय अनुपम वीरता दिखाता हुआ भी अपयश को प्राप्त होता है अर्थात् कोई मनुष्य भी उसकी इस वीरता की सराहना नहीं करता किन्तु सबही उसे धिक्कारते हैं अत मंत्र में कहा गया है, कि हे प्रभु ! हमारी तमाम इंद्रियों को यश और बल प्राप्त हो, उसका मतलब यही है, कि परमात्मन् ! मैं अपने अंगों को बलवान् बना कर उस बल को यशस्वी वा श्रेष्ठ कर्मों में लगाऊं॥

अब यह देखना चाहिये कि प्रत्येक इन्द्रियों का बल और यश क्या है ?

वाक् का बल और यश —सत्य ही "वाक्" का बल है, क्योंकि सच बोलने वाले को यह डर नहीं होता, कि मेरा झूठ लोगों पर प्रगट होजायगा, तो मेरा अपमान होगा। इस लिये वह जो कुछ कहता है बल पूर्वक कहता है। उसे विश्वास होता है कि "सत्यमेव जयति नानृतं" सदा सत्य ही की जय होती है झूठ की नहीं, इस लिये अन्त में मेरी ही जय होगी, और सब आदमियों को मेरी ही बात माननी पड़ेगी। वेद में कहा है—

सुविज्ञान चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसीपस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्॥

ऋ० ७। १०४। १२॥

(अर्थ) यह बात (चिकितुषे जनाय) विद्वान् विवेकी जन के लिये (सुविज्ञानम्) स्पष्ट है, कि (सत् च असत् च) सत् और असत् दोनों प्रकार के (वचसी) वचन (पस्पृधाते) परस्पर स्पर्धा अर्थात् द्वेष रखते हैं। (तयोः) उनमें से (यत् सत्यम्) जो सत्य है (यतः अत्) और जो (ऋजीयः) सीधा सरल है (तत् इत्) उसी की (सोमः) शांति स्वरूप परमात्मा (अवति) रक्षा करता है, और (असत् हन्ति) असत् का हनन करता है।

इसी लिये शतपथ ब्राह्मण में भी लिखा है "तेवै सत्यमेव वदन्ते" मनुष्य को उचित है कि वह सत्य ही बोले।

भद्र और मधुर बोलना ही वाक् का यश है। जो मनुष्य मधुर बोलता है, सब उसकी प्रशंसा करते हैं। वेद ने कहा है "वाचा वदामि

मधुमत् (अथर्व० १ । ३४ । ३ ॥) मैं वाणी से शहद के समान मीठा भाषण करूं । "जिह्वाया अग्रेमधुमे जिह्वा मूले मधूलकम्" अथर्व० १ । ३४ ॥ अर्थात् मेरी जिह्वा के अग्रभाग पर मधुरता रहे, जिह्वा के मूल में मिठास रहे । मनु ने भी कहा है "सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्नब्रूयात्सत्यमप्रियम्" (मनु० ४ । १३४॥) अर्थात् सत्य बोले और प्रिय बोले, अप्रिय बात सत्य भी हो तो भी न बोले ।

अब भद्र के सम्बंध में वेद की शिक्षा देखिये ।

भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो वृहद्वोवय उच्यते सभासु ॥

अथर्व० ४ । २१ । ६

अर्थ—हे (भद्रवाचः) भद्र बोलने वालो ! तुम (गृहं) घरको (भद्रं) मंगलमय (कृणुथ) कर देते हो । और (सभासु) सभाओं में (वः) तुम्हारा (वृहत वयः) बहुत वर्णन (उच्यते) किया जाता है ।

अर्थात् जो मनुष्य सब का कल्याण करने वाला वचन बोलते हैं, उनके घर में भी सदा मङ्गल रहता है, और जब वह सभा में जाते हैं तो वहां भी लोग उनकी प्रशंसा करते हैं । अतः जिस समय मनुष्य "ओं वाक् वाक्" इन शब्दों का उच्चारण करे उस समय इस बात का विचार करते हुए कि मेरी वागेन्द्रिय और वाक्शक्ति बलवान और यशस्वी हो इस बात का भी ध्यान करे, कि मैं अपनी वाक् शक्ति से सदा सत्य, मधुर और सब का कल्याण करने वाला वचन बोला करूंगा । इसी से मेरी वाक् शक्ति को यश और बल प्राप्त होगा ।

प्राण का बल और यश प्राणों के सम्बन्ध में विशेष बातें तो हम प्राणायाम के विषय में कहेंगे। यहां केवल इतना ही बतला देना चाहते हैं कि प्राणायाम से प्राण पुष्ट होते हैं और वश में भी आ जाते हैं। जब प्राण पुष्ट होकर पूर्ण रूपसे वश में आ जाते हैं, तो मनुष्य जितनी देर तक चाहे उन्हें रोक सकता है। मनुष्य को जब कोई साहस का कार्य करना पड़ता है, तो उसे वह प्राणों की गति को रोक कर ही कर सकता है। तैरते समय मनुष्य को सांस रोकना पड़ता है और यदि तैरते हुए सांस टूट जाय तो मनुष्य डूब जाता है। लम्बी छलांग लगानी हो तो सांस रोक कर लगाई जाती है। लम्बी दौड़ के लिए भी सांस को वश में रखना आवश्यक है। जो मनुष्य शीघ्र हांपने लगते हैं, वह लम्बा नहीं दौड़ सकते। किसी पर चोट चलाने वा दूसरों का वार बचाने का कार्य भी सांस रोककर ही किया जाता है। वेद में लिखा है—

अविर्न मेषो नसि वीर्याय, प्राणस्य पन्था अमृतो ग्रहाभ्याम्

यजु० १९। ९०

अर्थ – (मेषः न) मेढे के समान लड़ने वाला (अवि) संरक्षक प्राण वायु (वीर्याय) वीर्य के लिये (नसि) नाक में रक्खा है। (ग्रहाभ्याम्) श्वास उच्छ्वास रूप दोनों प्राणों से (प्राणस्य अमृतः पंथा) प्राण का अमृत मय मार्ग बना है।

इस मंत्र में स्पष्ट रूप से बतलाया गया है कि प्राण मेढ़े के समान लड़ने वाला है और वीरता को उत्पन्न करता है। और यह भी बतलाया गया है कि श्वास सदा नाक से ही लेना चाहिये, मुख से नहीं। अतः श्वास को अधिक समय तक वश में रख सकना ही प्राण का बल है। और इससे जो शक्ति प्राप्त होती है उसे साहसी कामों में लगाना ही उसका यश है।

चक्षु का बल और यश

आंख एक अत्यन्त आवश्यक अङ्ग है। उसके खराब हो जाने से मनुष्य का जीवन ही निरर्थक हो जाता है। अन्धों को देखो, कैसा दुःखमय जीवन व्यतीत करते हैं। इसी लिये कहावत है "आंखें बड़ी नयमत हैं"। अतः मनुष्य को आंखों का बड़ा ध्यान रखना चाहिये, और कोई भी ऐसा काम न करना चाहिये, जिस से आंखें निर्बल हो जाएं। ठंडे जल के छींटे मारना आंखों के लिये विशेष लाभकारी है। इससे आंखों की नसें पुष्ट होती हैं, और ज्योति बढ़ती है। थोड़े प्रकाश में पढ़ना, लेट कर पढ़ना, आंखों पर चमक का पड़ना, बहुत गर्म जल से आंखों वा सिर को धोना, मिर्च आदि गर्म पदार्थों का अधिक सेवन, अनेक ऐसी बातें हैं, जिन से आंखों को हानि पहुंचती है। प्रति दिन सुरमा लगाना आंखों के लिये अत्यन्त लाभकारी है। आंखों से अधिक काम भी न लेना चाहिये। जब आंखें थक जावें तो कार्य बन्द कर दो, और हरे २ खेतों वा दूसरे सुन्दर दृश्यों को देखो। इससे आंखों को अत्यन्त लाभ पहुंचेगा। जब आंखें पुष्ट हो जाती हैं, तो वह अधिक समय तक कार्य करने से भी नहीं थकतीं, और उनकी ज्योति बढ़ जाती और तीक्ष्ण हो जाती है। अथर्ववेद में लिखा है "सौपर्णं चक्षुः +" अर्थात् गरुड़ के समान तीक्ष्ण दृष्टि होनी चाहिये।

अब यह विचार करना चाहिये कि आंखों का यश क्या है? इस विषय में वेद कहता है—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः, भद्रं पश्येमाक्षिभिर्यजत्राः।

॥ ऋ० १।८९।८ ॥

+ देखो अथर्व० १।६२।५

अर्थ—(यजत्राः देवाः) हे याजक लोगों ! हम (कर्णेभिः) कानों से (भद्रं) कल्याणमय उपदेश ही (शृणुयाम) सुनें, (अक्षिभिः) आंखों से (भद्रं) सब का कल्याण ही देखें।

यह भद्र क्या है ? इस विषय में किसी कवि ने कहा है—

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत् ।
आत्मवत् सर्व भूतेषु यः पश्यति सः पश्यति ॥

अर्थ—पराई स्त्री को माता के समान, पराये धन को मिट्टी के ढेले के समान और प्राणि मात्र को अपने आत्मा के समान जो देखता है वही वास्तव में देखता है ।

अर्थात् अपनी स्त्री को छोड़ के संसार की शेष सब स्त्रियों को माता गिनो वा पुत्री भाव की पवित्र दृष्टि से ही देखना चाहिये । इसी प्रकार से स्त्रियों को भी अपने पति के अतिरिक्त संसार में जितने भी पुरुष हैं उन्हें पिता, भ्राता व पुत्र की दृष्टि से देखना उचित है । पराये धन को कभी लालच की दृष्टि से न देखे । वेद कहता है "मा गृधः कस्य स्विद्धनम् + " पराये धन का लालच न करो । धन किस का है ? प्राणि मात्र को मित्र की दृष्टि से देखे और यह समझे कि मेरी आत्मा के समान ही उनकी भी आत्मा है, इस लिये जिन २ बातों से मेरी आत्मा को दुःख होता है, उन उन बातों से उनकी आत्मा को भी अवश्य दुःख होता होगा । वेद कहता है—

मित्रस्याऽहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ॥

॥ यजु० ३६ । १८ ॥

+ देखो यजु० ॥ ४० । १ ॥

अर्थ—(अहं) मैं (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणियों को (मित्रस्य चक्षुषा) मित्र की दृष्टि से (समीक्षे) देखता हूं।

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।

॥ यजु० ३६। १८ ॥

अर्थ—हम सब आपस में (मित्रस्य चक्षुषा) मित्र की दृष्टि से (समीक्षामहे) देखें।

श्रोत का बल और यश

जिस प्रकार से चक्षु के विषय में कहा गया है, उसी प्रकार से अपने कार्यों की भी रक्षा करनी और श्रवण शक्ति के बल को बढ़ाने के लिये उचित उपाय करना चाहिये। श्रोत्र के यश के सम्बन्ध में वेद का निम्न लिखित उपदेश ध्यान देने के योग्य है—

सुश्रुतौ कर्णौ भद्र श्रुतौ कर्णौ भद्रं श्लोकं श्रूयासम्।

॥ अथर्व० १६। २। ४ ॥

अर्थ—(कर्णौ) मेरे कान (सुश्रुतौ) उत्तम उपदेश सुनने वाले हों, (कर्णौ) मेरे कान (भद्र श्रुतौ) कल्याण की बात सुनने वाले हों, मैं (भद्रं श्लोकं) कल्याणमय उपदेश (श्रूयासं) सुनूं।

अर्थात् मनुष्य को अच्छी २ ज्ञान और कल्याण की बातें ही सदा सुननी चाहिये, गन्दे राग नहीं। तुलसीदास ने कहा है—

तुलसी पिछले पाप से, हरि चरचा न सुहाय।
कै काहू से लड़ पड़े, कै घरकू उठ जाय॥

नाभि का बल और यश

नाभि का अर्थ जननेन्द्रिय + वा जनन शक्ति है। ब्रह्मचर्य से इसका बल बढ़ता है और प्रजा उत्पादन ही इसका यश

+ देखो पांच महायज्ञों की विधि मुन्शीराम जिज्ञासु द्वारा सम्पादित पृष्ठ ६।

है। वैदिक धर्म में ब्रह्मचर्य की बड़ी महिमा है। वेद कहता है—

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥
अथर्व ११ । ५ । ७ ॥

अर्थ—राजा (ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्यरूपी तप के द्वारा (राष्ट्रं विरक्षति) राष्ट्र की रक्षा करता है। (आचार्यः) अध्यापक (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य के द्वारा ही (ब्रह्मचारिणम् इच्छते) ब्रह्मचारियों की इच्छा करता है।

अर्थात् ब्रह्मचर्य के बल के बिना न तो राजा राष्ट्र की रक्षा कर सकता है और न अध्यापक ही विद्यार्थियों को शिक्षा दे सकता है। नाभि का बल बढ़ाये बिना संसार का कोई कार्य भी नहीं बन सकता ॥

हृदय का बल और यश हृदय का बलवान होना अति आवश्यक है, जिस मनुष्य का हृदय बलहीन होता है, उसका शरीर कैसा ही बलिष्ट हो, तो वह वीरता का कार्य नहीं कर सकता ॥ प्रेम और भक्ति हृदय का यश है। अतः जहां व्यायाम द्वारा हृदय (छाती) को सुदृढ़ और विशाल बनाने की आवश्यकता है, वहां उसके अन्दर प्रेम और भक्ति के भाव भी उत्पन्न करना चाहिये ॥ दूसरे का दुःख देख कर मनुष्य का हृदय द्रवित नहीं होता वह हृदय हीन मनुष्य कहलाता है।

वेद में लिखा है—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥
अथर्व० ३ । ३० ॥

अर्थ-(सहृदयं)सहृदयता, (सम्मनस्यं) उत्तम मन का भाव (अविद्वेषं) निर्वैरता (वः) तुम्हारे लिये (कृणोमि) करता हूं । [अन्यः अन्यं] एक दूसरे के ऊपर (अभिहर्यत) ऐसी प्रीति करो, जैसी (जातं वत्सं) नव जात बछड़े से [अघ्न्या] गऊ प्रेम करती है]

हमारा मन भी हृदय के अन्दर ही निवास करता है। उस मन को शिव संकल्प वाला बनाना चाहिये ।

हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ।

यजु० ३४ । ६ ॥

अर्थ—[हृत्प्रतिष्ठं] हृदय में रहता हुआ [अजिरं] अजर और [जविष्ठं] वेगवान है, वह मेरा मन शुभ (शिव) संकल्प युक्त होवे ।

कण्ठ का बल और यश

वाक् और कण्ठ दो अलग २ अङ्ग इनका कार्य भी जुदा २ है । कण्ठ ध्वनि उत्पन्न करता है, वागेन्द्रिय शब्द उच्चारण करती है कंठ से निकली ध्वनि द्वारा उन शब्दों को धकेल कर दूर तक दूसरों के कानों में पहुंचाया जाता है । जब कभी हम अपने मन ही मन में बातें करते हैं, तो वागेन्द्रिय तो काम करती है किंतु कंठ कार्य नहीं करता इसी कारण शब्द उत्पन्न तो होते हैं, किंतु वे किसी दूसरे को सुनाई नहीं देते । जिह्वा और होठों के हिलने से दूसरे मनुष्य को यह तो मालूम हो सकता है कि यह मनुष्य अपने मन ही मन में कुछ कह रहा है। किंतु क्या कह रहा है, यह बोध नहीं होता । वाक् के सम्बन्ध में पहिले लिखा जा चुका है । यहां कंठ के सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक है ।

जिन मनुष्यों का कंठ बलवान होता है, वे ज़ोर से बोल कर अपनी आवाज़ को दूर तक पहुंचा सकते हैं । किंतु जिन का कंठ निर्बल होता है

वे ऊंचे स्वर से नहीं बोल सकते और थोड़े समय में उनकी आवाज़ भर्रा जाती है और खांसी उठने लगती है।

प्रतिदिन ऊंचे स्वर से राग गाने से कंठ में बल आता है, इसलिये ईश्वर भक्ति के राग ऊंची आवाज़ से प्रतिदिन गाने चाहिये। कंठ वारीक़ और मीठा होना ही उसका यश है। बहुतेरे मनुष्यों का कंठ ऐसा बुरा होता है कि उसकी ध्वनि कानों को फाड़ने वाली होती है।

शिर का बल और यश

शिर के अन्दर दिमाग़ रहता है। इसी के द्वारा मनुष्य ज्ञान प्राप्त करता है। दिमाग़ में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न हो जाने से मनुष्य पागल हो जाता है। जिनका दिमाग़ निर्बल होजाता है, उनको यदि किसी से थोड़ी सी देर बातें भी करनी पड़ जावें, तो शिर में दर्द होने लगता है। बच्चों का खेलना, कूदना, और चीखना, चिल्लाना, उन्हें बुरा मालूम होता है। और ज़रा जोर से कदम रखने से सिर में धमक लगती है। विचार शक्ति नष्ट प्रायः होजाती है। इससे सिद्ध है कि शिर का बल कितना आवश्यक है? ज्ञान प्राप्ति ही शिर का यश है। वेद में लिखा है। "शिरो देव कोश"* शिर देवों का कोष हैं"। देव अर्थात् विद्वानों का धन ज्ञान है, और शिर ज्ञान का कोष हैं।

बाहुओं का बल और यश

बाहु बल प्रसिद्ध है। किसी कवि ने कहा है—

नहीं विद्या नहीं बाहु बल, नहीं खर्चन को दाम।
मोसे तुच्छ गरीब की, पत राखे भगवान॥

*अथर्व० १०-२-२७।

विद्या का बल, बाहु बल, और धन बल, संसार में यह तीनों बल, प्रसिद्ध हैं। जो मनुष्य इनमें से कोई भी बल नहीं रखता, उसके तुच्छ होने में सन्देह ही क्या है? इनमें भी विद्या का बल सबसे श्रेष्ठ है और यह ब्राह्मणों का बल है। और बाहु बल दूसरे दर्जे पर है, वह क्षत्रियों का बल है। धन बल तीसरे दर्जे का (3rd class) है, वह वैश्यों का बल है। वेद कहता है, "बहु बाह्वोर्बलम्" * मेरे बाहुओं में बल रहे। "बल मसि बलं मयि धेहि" हे प्रभु! आप बल स्वरूप हैं मुझे भी बल दीजिये।

निर्बलों की रक्षा करना ही बाहुओं का यश है। वेद कहता है "भूरीणि भद्रा नर्येषु बाहुषु" मनुष्यों के हित करने वाले बाहुओं में बहुत कल्याणकारी धन हैं। तात्पर्य यह है कि वीरों के बाहु मनुष्यों के कल्याण के लिये ही होते हैं। "अस्तार इषुं दधिरे गभस्त्योरनन्त शुष्मा" (ऋग० १ । ६४ । १०) "शत्रु को भगाने वाले बाहुओं पर (इषुं दधिरे) बाण को धारण करने वाले (अनन्त शुष्माः) अनन्त बल से युक्त बनो"

करतल कर पृष्ठ का बल और यश।

(करतल) हथेली और (कर पृष्ठ) हाथ की पीठ इनका भी बल युक्त होना आवश्यक है। मुट्ठी बन्द करने वा खोलने में यह दोनों भाग इकट्ठे काम करते हैं जिन मनुष्यों के ये अङ्ग निर्बल होते हैं। वह डण्डे वा तलवार को दृढ़ता से नहीं पकड़ सकते। और शत्रु से मुठभेड़ होने पर उनके हाथ का

॥ ऋ० १ । १२६ । १० ॥

* अथर्व० का १९ सू० ६०

हथियार शत्रु के काम आता है। उनका वार भी ढीला पड़ता है। दीनों को दान देना ही इनका यश है। इस विषय में वेद का उपदेश देखो—

स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्न कामाय कृशाय।

॥ ऋ० १० । ११७ । ३ ॥

अर्थ—उन लोगों को जो (कृशाय) भूख से दुर्बल हो गये हैं और (अन्न कामाय) अन्न की कामना से (गृहवे) घर २ (चरते) फिरते हैं, (यः) जो (ददाति) अन्न आदि पदार्थ दान देता है (सः इत भोजः) वही सच्चा भोजन करता है।

और जो ऐसा नहीं करता वह—

केवलाघो भवति केवलादी।

॥ ऋ० १० । ११७ । ६ ॥

अर्थ—(केवल-आदी) केवल स्वयं ही खाने वाला (केवल-अघ) केवल पाप रूप (भवति) होता है।

पृणन्नापिरपृणन्तमभिष्यात्।

॥ ऋ० १० । ११७ । ७ ॥

(पृणन् आदिः) दाता मित्र (अपृणन्तं) अदाता कृपण से (अभिष्यात्) श्रेष्ठ है।

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर।

॥ अथर्व० ३ । २४ । ५ ॥

अर्थ—(शतहस्त) हे सौ हाथों वाले! (समाहर) तू सम्यक् रीति से संग्रह कर, (सहस्र हस्त) हे हज़ार हाथों वाले! तू सम्यक् रीति से दान कर।

इसका तात्पर्य यह है कि कमाते और संग्रह करते समय यह समझो कि तुम्हारे १०० हाथ है और दान करते समय समझो कि १००० हाथ है। अर्थात् संग्रह करने से १० गुणा अधिक उत्साह के साथ दान करना चाहिये।

इन्द्रिय स्पर्श की विधि इस मन्त्र में जिन २ इन्द्रियों का नाम आया है उन २ का दायें हाथ की उङ्गलियों से स्पर्श करना चाहिये। जिन इन्द्रियों के दो भाग हैं, उनके नाम दो बार लिये गये हैं। जैसे "चक्षुः चक्षुः" एक वार "चक्षुः कहके एक आंख को, और दूसरी वार "चक्षुः" कहके दूसरी आंख को स्पर्श करना चाहिये। वागेन्द्री के दो भाग जिह्वा और मुख (कण्ठ, तालु, दन्त, ओष्ठ, आदि) हैं इन्हीं दोनों की अनेक चेष्टाओं से शब्द बनते हैं। "प्राणः प्राणः" कहते समय नसिका के दोनों छिद्रों को स्पर्श किया जा सकता है. जिससे तात्पर्य है, कि नासिका द्वारा ही सांस लेना चाहिये मुख द्वारा नहीं॥ वास्तव में प्राणेन्द्रिय के दो भाग नासिका और फेफड़े हैं। इस लिये "प्राणः प्राणः" कहते समय इस बात का विचार अवश्य करना चाहिये कि फेफड़े के अन्दर किसी प्रकार की निर्बलता तो नहीं है "बाहुभ्यां" उच्चारण करके दोनों ही बाहुओं को स्पर्श करना चाहिये। दायें हाथ से बायें, और बायें से दायें को॥

अङ्गों को स्पर्श करते समय मन की प्रवृत्ति उस २ अङ्ग की ओर ले जानी चाहिये, और मन में पूर्ण निश्चय से यह विचार करना चाहिये कि मेरे अङ्ग दिन प्रति दिन पुष्ट हो रहे हैं॥ ऐसा विचार करने से मानसिक शक्ति द्वारा अङ्गों का बल बढ़ता है॥

यदि मनुष्य रोगी हो, तो उसे संध्या समय मन में यह निश्चय उत्पन्न करना चाहिये, कि मेरा रोग घट रहा है। इससे वह मनुष्य कुछ समय में अवश्य ही नीरोग हो जायगा, मानसिक इलाज का यही नियम है। फ्रान्स (France) का एक प्रसिद्ध ×डाक्टर इसी प्रकार से अपने रोगियों का इलाज करता है। वह प्रति दिन प्रातःकाल एक खुले स्थान में सब रोगियों को खड़ा करके निम्न वाक्य का पाठ करता है।

Day by day in every way,

I am getting better and better.

अर्थात् "दिन प्रति दिन हर प्रकार से मेरा रोग घट रहा है। "यह मंत्र ही उसकी औषधि है।

केवल इसी इलाज से उसके सब प्रकार के रोगी अच्छे हो जाते हैं।

यह केवल थोड़े मुख्य २ अङ्गों का ही नाम लिया गया है, किंतु मनुष्य को अपने तमाम अङ्गों को पुष्ट और नीरोग रखने का प्रयत्न करना चाहिये। वेद में इस बात की शिक्षा देने वाले अनेक मंत्र हैं। व्यायाम से ही मनुष्य के सब अङ्ग पुष्ट और नीरोग रह सकते हैं, इसलिये व्यायाम प्रति दिन करना योग्य है।

सवैया।

अङ्ग और प्रत्यङ्ग से दृढ़ता गहे, और मन के माहिं उमङ्ग बढ़ावे।
धीरजता और वीरजता, पुनि सुन्दरता परि पूर्ण दिखावे॥
क्यों न "अभय" बल बुद्धि बढ़े, धन, धर्म सुकर्म की वृद्धि करावे।

× देखो "आर्य्य" दिसम्बर [१९२५ पृष्ठ २९]

हे प्रिय शिष्य ! करो व्यायाम, सबै सुख धाम यही सब पावे ॥ १ ॥
रोग अरोग करे सगरे, कफ खांसी अजीर्ण को दूर भगावे ।
शूल प्रमेह बिकार अमाशय, दुर्बलता तनु दर्द हटावे ॥
है व्यायाम महौषधि औषधि, ता कर सेवन यह फल पावे ।
हे प्रिय शिष्य ! करो व्यायाम, सबै सुख धाम यही सब पावे ॥ २ ॥

(३) मार्जन मन्त्र

ओं भूः पुनातु शिरसि । ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः । ओं स्वः पुनातु कंठे। ओं महः पुनातु हृदये । ओं जनः पुनातु नाभ्याम् । ओं तपः पुनातु पादयोः । ओं सत्यं पुनातु पुनश्शिरसि। ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र ॥

अर्थ—(ओं) परमात्मा (भूः) प्राणः स्वरूप वा सत् स्वरूप (पुनातु) पवित्र करे (शिरसि) शिर को (भुवः) चित् स्वरूप परमात्मा (पुनातु) पवित्र करे (नेत्रयोः) नेत्रों को (स्वः) सुख स्वरूप परमात्मा (पुनातु) पवित्र करे (कण्ठे) कंठ को (महः) महान ईश्वर पवित्र करे (हृदये) हृदय को । (जनः) जगत् का उत्पादक ईश्वर पवित्र करे (नाभ्याम्) नाभि को (तपः) दुष्टों को तपानेवाला ईश्वर पवित्र करे (पुनः) फिर (शिरसि) शिर को (खं ब्रह्म) आकाशवत् व्यापक ईश्वर पवित्र करे (सर्वत्र) शरीर के प्रत्येक अङ्ग को ।

व्याख्या

छले मन्त्र में बल और यश की कामना की गई है। किंतु ये दोनों बातें पवित्रता के बिना प्राप्त नहीं होसकती। इसीलिये इस मन्त्र में पवित्रता के लिये प्रार्थना की गई है। "मार्जन" का अर्थ भी शुद्ध पवित्र और निर्मल बनना है। वेद में लिखा है "शुद्धा पूता भवत" (ऋ० १०-१८-२) हे मनुष्यो! शुद्ध पवित्र बनजाओ" उससे क्या लाभ होगा? वेद कहता है, "पवमानः पुनातु मा क्त्वे दक्षाय जीवसे" अथर्व ६-१९-२ (पवमानः) पवित्र परमेश्वर (मा) मुझे (पुनातु) पवित्र करे (क्रत्वे) कर्मों के लिये (दक्षाय) बुद्धि तथा बल के लिये (जीवसे) और जीवन के लिये। अर्थात् पवित्रता से मनुष्य पवित्र कर्म करता है। जिससे बुद्धि और बल की वृद्धि होती है, और मनुष्य पूर्ण आयु को प्राप्त होता है। आर्य्यसमाज के छठे नियम में शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति की शिक्षा है। संध्या के इस मन्त्र में शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक तीनों प्रकार की पवित्रता की शिक्षा दी गई है। पवित्रता ही उन्नति का मूल है। जिस मनुष्य के विचार पवित्र नहीं हैं वह न शारीरिक उन्नति कर सकता है न आत्मिक। इसी प्रकार से जो समाज अपवित्र आचार व्यवहारों से ग्रसित हो वह कभी उन्नति को प्राप्त नहीं हो सकता।

बाह्य शुद्धि | शारीरिक शुद्धि को बाह्य शुद्धि और आत्मिक शुद्धि को आन्तरीय शुद्धि भी कह सकते हैं।

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति, मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥

मनु० ५।१०९ ॥

अर्थ—जल से शरीर के बाहर के अवयव, सत्याचरणसे मन; विद्या और तप से आत्मा और ज्ञान से बुद्धि पवित्र होती है ।

यहां शारीरिक शुद्धि का साधन जल बतलाया गया है । अर्थात् शुद्ध जल से स्नान करने से शरीर के सब अवयव शुद्ध होजाते हैं । इसलिये सन्ध्या के इस मन्त्र में शरीर के जिस २ भाग का नाम आया है, उस २ भाग पर जल छिड़कने का विधान है । इससे अङ्गों का कुछ थोड़ा सा मल दूर हो जाता है । आलस्य दूर होकर शरीर में चैतन्यता उत्पन्न हो जाती है, और ठंडे पानी के छीटों से खून का चक्कर तीव्र हो जाने से उन अङ्गों की पुष्टि

प्रति दिन स्नान करते समय भी इस मन्त्र का पाठ कर जिस २ अङ्ग का नाम आवे उस २ को अच्छे प्रकार मल के धोना चाहिये । ऐसा करने से शरीर का प्रत्येक भाग शुद्ध पवित्र होकर शारीरिक बल की प्राप्ति का कारण होगा स्नान की वास्तविक विधि भी यही है, कि शरीर के प्रत्येक भाग को अच्छे प्रकार से धोकर शुद्ध किया जावे । हर हर गंगा कहते हुये कांपते हाथ से दो चार लोटे शरीर पर फेंक लेना स्नान नहीं कहलाता। उसे तो स्नान का ढोंग ही कहना उचित है ।

आन्तरीय शुद्धि बाह्य शुद्धि जल से प्राप्त होती है आन्तरीय पवित्रता की विधि मन्त्र के अर्थों पर विचार करने से प्रतीत होगी ।

भूःपुनातु शिरसि

भूः—"भूरिति वै प्राणः" [तैत्तिरीयोपनिषद् प्रपा० ७ अनु० ६] 'भूः' का अर्थ प्राण हैं। परमात्मा सारे विश्व का प्राण अर्थात् जीवन हैं इसलिये परमात्मा का नाम भी 'भूः' है। यहां शिर को पवित्रता के लिये प्रार्थना करते हुए परमात्मा को 'भूः' नाम से पुकारा गया है, किसी और नाम से क्यों नहीं पुकारा गया ? इसका विशेष कारण है और वह यह है, कि वास्तव में हमारे शरीर के अन्दर प्राण वायु ह शिर की रक्षा करती है। वेद में लिखा है। "तत् प्राणो अभिरक्षति शिरः" (अथर्व० १०।२।२७) (तत् शिरः) उसी शिर की (प्राणः) प्राण वायु (अभिरक्षति) रक्षा करता है। हम श्वास के साथ जो वायु अन्दर लेजाते हैं वह प्राण वायु है। यह प्राण वायु हमारे लोहू को पवित्र करती है। और वह पवित्र लोहू हमारे शिर में जाकर उसे भी पवित्र करता है, और उसको पुष्ट करता है। जब कभी हमें किसी बन्द कमरे में जहां बहुत भीड़ हो और वायु विगड़ी हुई हो, थोड़ी देर बैठना पड़जाता है, तो हमारे शिर में चक्कर आ जाता है। और पीड़ा होने लगती हैं। इस से जहां हम परमात्मा से प्राणः स्वरूप वा प्राणों से प्यारा कहके शिर की पवित्रता की प्रार्थना करते हैं उसके साथ ही यह शिक्षा मिलती है कि शिर को पवित्रता के लिये हमें सदा शुद्ध वायु में श्वास लेना चाहिये।

शिर और प्राण का निम्न लिखित सम्बन्ध भी विचारणीय है।

* स्नान—PuRification by bathing. Sanskrti and English Dictionary by H. H. WiLSON.

(१) प्राण जीवन शक्ति है, और शिर के भीतर ज्ञान शक्ति रहती है। दोनों श्रेष्ठ शक्तियां हैं। प्राण सारे शरीर में फैले हुये हैं और ज्ञान तन्तुओं का जाल भी सारे शरीर में फैला हुआ है।

(२) शिर सारे शरीर पर शासन करता है किंतु वह प्राणों के आधीन है। क्योंकि प्राणों के निकलते ही शिर की शक्तियां भी नष्ट हो जाती हैं।

"भूः सत्तायाम्" भूः का दूसरा अर्थ सत्ता वा अस्तित्व है। परमात्मा का नाम "स्वयम्भूः" है। अर्थात् उसका अस्तित्व किसी दूसरे पर निर्भर नहीं है, वा यूं कहो, कि वह "सत्" है। स्वतन्त्र सत्ता ही सिर की पवित्रता है, इसी कारण वीर पुरुष अपनी स्वतन्त्रता के लिये सिर दे देते हैं पर स्वतन्त्रता को खो कर सिर रखना पसन्द नहीं करते। क्योंकि स्वतन्त्र सत्ता को खो कर सिर पवित्र नहीं रहता। सिर की पवित्रता स्वतन्त्रता ही है। जो व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति का दास बन जाता है, वह एक प्रकार से अपनी सत्ता ही खो बैठता है, क्योंकि न तो वह अपनी इच्छा से कुछ विचार सकता है, और न कुछ कर सकता है। उसे ऐसा करने का अधिकार ही नहीं रहता। वह अपने स्वामी के हाथ का (1011) हथियार है। स्वामी जिस प्रकार से चाहे उससे काम ले, उसे चूं न चिरा करने का अधिकार नहीं। वह सिर रखते हुए भी बेसिर का है, क्योंकि उस सिर से वह कोई काम नहीं ले सकता। अर्थात् यूं कहो कि सत्ता खो देने से उसका सिर निकम्मा (अपवित्र) हो गया है। वह जङ्ग खाई हुई तलवार के समान है जो फेंक देने के अतिरिक्त और किसी काम की नहीं।

सत्ता या स्वतन्त्रता ही सिर को पवित्र करती है। व्यक्ति के समान ही जातियों का हाल है। दास जातियों का सिर भी निकम्मा हो जाता है, उनके सिर में कभी कोई विचार भी आता है तो अपनी हीनता का ही आता है। उच्च भाव उसके अन्दर उत्पन्न ही नहीं होते। उच्च ज्ञान को वह प्राप्त कर ही नहीं सकती। फौज में हजारों सिपाही हैं। उन सबका केवल एक ही सरदार है। क्यों? बाकियों का सिर कहां गया? सिर तो सब की गर्दन पर है पर सरदार (सिर वाला) एक ही कहलाता है। ऐसा क्यों? बात यह है कि केवल वही अपने सिर का मालिक है। उसी को उस से काम लेने का अधिकार है। शेषों का सिर तो न होने के समान है। युद्ध होरहा है, तलवारें चल रही हैं। सरदार दूर से खड़ा देख रहा है। उसके पहलू में भी तलवार लटक रही है पर वह उसे चला नहीं रहा है। क्या वह निकम्मा खड़ा है? नहीं दूसरे सिपाही तलवार से लड़ रहे हैं वह सिर से लड़ रहा है। वह विचार रहा है कि किस रीति से फौज को लड़ाया जाये जिससे शत्रु पर जय प्राप्त हो। जय प्राप्त होती है, तो सरदार का यश दिग्दिगान्तर में फैल जाता है। सिपाहियों को कोई पूछता भी नहीं। क्योंकि सत्ता सरदार की है सिपाहियों की नहीं। इससे समझ में आगया होगा कि स्वतन्त्र सत्ता ही सिर की पवित्रता है स्वतन्त्रता बिना मनुष्य या जाति का सिर निकम्मा है इसी कारण जो मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता को खो देता है वह अभिमान से सिर ऊचा नहीं उठा सकता। इससे दूसरी शिक्षा यह मिलती है कि मनुष्य जहां तक हो सके, अपनी स्वतन्त्र सत्ता को नष्ट न होने दे, और उसके लिये अपना सिर भी दे दे। क्योंकि स्वतन्त्र सत्ता के बिना सिर अपवित्र है।

भुवः पुनातु नेत्रयोः

भुवः—"भुवरित्यपानः" (तैत्तिरीयोपनिषद, प्रपा० ७ अनु० ५) "भुवः" शब्द का का अर्थ अपान है। अपान वायु वह है जो हमारे सांस के साथ बाहर निकलती है, और हमारे शरीर के सारे मलों को जो लोहू के साथ वह कर फेफड़ों में पहुंचते हैं बाहर निकाल देती है। इन मलों के अन्दर रहने से शरीर में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होकर, दुःख का कारण होते हैं। अतः अपान वायु ही मलों को शरीर से बाहर निकाल कर उन दुखों का नाश करती है। इसी लिये भुवः का अर्थ दुःख नाशक भी है। "यः सर्वं दुःखमपानयति सोऽपानः" जो सब दुःखों को दूर करे सो अपान है। परमात्मा मनुष्यों के दुःखों का नाश करता है इसलिये परमात्मा का नाम भी "भुवः" है।

"भुवः" का दूसरा अर्थ "भावयतीति भुवः"* हृदय के भाव हैं। "भुवःअकल्पत" "भुवः" का तीसरा अर्थ चेतना, कल्पना वा ज्ञान है।

नेत्रों की पवित्रता के लिये प्रार्थना करते हुये परमात्मा को भुवः नाम से सम्बोधन किया है। इसका कारण क्या है? अर्थात् "भुवः" के अर्थों का नेत्रों से क्या सम्बन्ध है? और नेत्रों की पवित्रता के सम्बन्ध में हमें इससे क्या शिक्षा मिलती है? अब यह बात विचारणीय है।

मैंने अभी बताया है कि "भुवः" का अर्थ अपान वायु, चित्त और हृदय के भाव हैं। जिस प्रकार से अपान वायु हृदय के अन्दर से आती है (क्योंकि फेफड़े हृदय के भीतर हैं) और उनके मलों को बाहर निकाल कर प्रगट कर देती है, उसी प्रकार से हृदय के भले

* देखो वैदिक धर्म अगस्त १९२: पृष्ठ २४७

बुरे भाव भी आंखों * से प्रगट होते हैं। हृदय में क्रोध उत्पन्न होते ही आंखें लाल हो जाती हैं, हृदय में दया का भाव उत्पन्न होता है तो आंखों से दया टपकने लगती है, अहिंसा के भाव को आंखों से पशु भी पहचान लेते हैं। अतः हृदय के अच्छे भाव ही आंखों की पवित्रता है, और बुरे भाव ही आंखों को अपवित्र बना देते हैं पिछले मन्त्र की व्याख्या में आंखों के यश के विषय में भी यही भाव हमने प्रगट किये हैं।

भुवः का अर्थ चेतना वा ज्ञान भी है। हमारी चेतना शक्ति नेत्रों के द्वार से ही बाहर निकल कर सारे संसार में भ्रमण करती है। और दूर २ के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कराती है। जितना ज्ञान हमें नेत्रों से प्राप्त होता है उतना ज्ञान और किसी इन्द्रिय से प्राप्त नहीं होता। इसलिये ज्ञानेन्द्रियों में नेत्र श्रेष्ठ हैं। मनुष्य आंखें बन्द करके बैठ जावे तो उसकी चेतना शक्ति शरीर रूपी दुर्ग में मानो कैद हो जाती है। नेत्रहीन मनुष्य को दूर की चीजों का ज्ञान तो अलग रहा, अपने आस पास की वस्तुओं का ज्ञान भी नहीं हो सकता। इसलिये "भुवः" अर्थात् ज्ञान प्राप्त करना ही आंखों की पवित्रता है। इससे हमें यह शिक्षा मिलती है, कि नेत्रों को या तो संसार का ज्ञान प्राप्त करने लिये के काम में लाना चाहियें, या हृदय के उत्तम भाव प्रकट करने के लिये।

नेत्र ज्ञानेन्द्रियों में मुख्य है। मुख्य में गौण भी सम्मिलित होते हैं इसलिये यहां "नेत्र" शब्द से सारी ज्ञानेन्द्रियों का भाव लेना चाहिये। अर्थात् परमात्मा से प्रार्थना करनी चाहिये, कि हे प्रभु! मेरी सारी ही ज्ञानेन्द्रियों का मल दूर होकर पवित्रता प्राप्त हो।

---

* वृन्द कवि का निम्न लिखित दोहा इसी भाव को किस सुन्दरता से प्रकट करता है–"नैना देत बताय सब, हिय के हेत अहेत।
जैसे निर्मल आरसी, भली बुरी कह देत"।

स्वः पुनातु कण्ठे

स्वः—"स्वरिति व्यानः" (तैत्तिरीयोपनिषद्, प्र० ७ अनु० ६) स्वः शब्द का अर्थ व्यान है।

व्यान उस प्राण वायु को कहते हैं जो सारे शरीर में फैला हुआ है। और जिससे शरीर के प्रत्येक भाग में चेष्टा उत्पन्न होती है। "यो विविधं जगद् व्यानयति व्याप्नोति स व्यानः" क्योंकि परमात्मा सारे जगत् में व्यापक होकर उसमें चेष्टा उत्पन्न कर रहा है, इसलिये परमेश्वर का नाम भी स्वः है।

चेष्टा ही सुख है। बच्चा पैदा होते ही चेष्टा करने लगता है और हाथ पाओं को हिला कर प्रसन्न होता है। संसार के सारे सुख चेष्टा द्वारा ही प्राप्त किये जाते हैं। शरीर चेष्टा ही से पुष्ट होता है। विद्या चेष्टा ही से प्राप्त होती है। धन भी चेष्टा ही से कमाया जाता है। अतः चेष्टा के बिना कोई कार्य्य भी सिद्ध नहीं हो सकता। चेष्टा कर्म है। बिना कर्म के भोग की प्राप्ति असम्भव है।

"स्वः" का अर्थ व्यान है, जो शरीर में चेष्टा उत्पन्न करता है। चेष्टा सारे सुखों का साधन है। इसलिये "स्वः" का अर्थ सुख वा आनन्द भी है। परमात्मा भी सुख स्वरूप है इसलिये परमात्मा का नाम भी "स्व" है।

"स्वः" का कठ से क्या सम्बन्ध है ? यह बात अब विचारणीय है।

कण्ठ और चेष्टा

"कण्ठ शिर और धड़ के बीच में एक छोटा सा छिद्र है, जिसके बीच में से वायु की नाली

और भोजन की नाली गुजरती है। इनके द्वारा श्वास चलता और भोजन पेट में पहुंचता है। इसी के बीच में एक छोटा सा यन्त्र है जिससे ध्वनि उत्पन्न होती है।

कण्ठ के विशेष कार्य दो है। भोजन को पेट में पहुंचाना और ध्वनि निकालना। और यह दोनों ही कार्य चेष्टा द्वारा सम्पादित होते हैं। भोजन के निगलने के लिये विशेष प्रकार की चेष्टा करनी पड़ती है। और ध्वनि उत्पन्न करने के लिये दूसरे प्रकार की। प्राण वायु को कण्ठ जब ध्वनि उत्पन्न करने वाले यन्त्र में से गुजारता है तो उस यन्त्र का तार थरथराने लगता है। इसी से ध्वनि उत्पन्न होती है। इससे सिद्ध हुआ कि कंठ का प्रत्येक कार्य चेष्टा से सम्बन्ध रखता है।

कण्ठ और सुख

कण्ठ ही सुख का हेतु है। यदि कंठ विशेष प्रकार की चेष्टा द्वारा भोजन को आमाशय तक न पहुंचा दे तो वह मुंह और आमाशय के बीच की नाली में अटक कर दुःख का कारण हो जाता है। भोजन शरीर में पहुंच कर बल और चेष्टा उत्पन्न करता है. जिसमे सुख प्राप्त होता है। इस लिये कंठ सुख का हेतु है।

जब मनुष्य मधुर कंठ से ईश्वर प्रेम और भक्ति के राग अलापता है, तब वह आनन्द से झूमने लगता है। इष्ट मित्रों में बैठ कर बातचीत करने से भी अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। उपदेश द्वारा दूसरों को भी पाप मार्ग से हटा कर सुख पहुंचाया जा सकता है। इस लिये भी कंठ सुख का हेतु है।

इससे सिद्ध हुआ कि कण्ठ का "स्वः" के अर्थों से विशेष सम्बन्ध है, और कण्ठ की पवित्रता, ईश्वर भक्ति के राग गाने, सब से प्रेम पूर्वक बोलने और उपदेश करने में है।

महः पुनातु हृदये

"महः" का अर्थ महान् या सबसे बड़ा है ॥ अतः उपर्युक्त नाम का अर्थ यह है "महान् ईश्वर हमारे हृदय को पवित्र करे।"

महानता ही हृदय की पवित्रता है। संकुचित हृदय मनुष्य केवल अपना ही लाभ सोचता है। और अपने लाभ के लिये दूसरों की हानि की भी परवाह नहीं करता। किन्तु जिन का हृदय महान है वह संसार की भलाई ही में अपनी भलाई समझते हैं ॥ आर्य समाज ही के नियम सं० ९ मे लिखा है "प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये यही हृदय की महानता है ॥

हृदय प्रेम का आगार है। जिन मनुष्यों का हृदय छोटा है. वह केवल अपने ही आप को प्रेम करते हैं। वह सदा यही चाहते हैं कि उन्हें संसार के अच्छे से अच्छे भोग प्राप्त हो जावें. चाहे सारा संसार भूखों मर जावे ॥ ऐसे मनुष्य ही स्वार्थी कहलाते हैं। वह सदा अपने ही सुखों के संग्रह में लगे रहते हैं। उन का मन्तव्य यह है कि—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

अर्थ—जब तक जीवे सुख से जीवे, अन्त को सब ने मरना है। मरने पर देह भस्म हो जाता है। फिर आना कहां। और—

ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।

अर्थात् ऋण लेकर भी घी पीवे।

गृहस्थियों का हृदय इससे कुछ अधिक उदार होता है क्योंकि उन्हें अपने अतिरिक्त अपनी स्त्री और बच्चों से भी प्रेम करना पड़ता है। और उनके दुख सुख की भी उन्हे चिंता करनी पड़ती है। देश के नेताओं का हृदय गृहस्थियों से भी अधिक महान है। क्योंकि उनके हृदय में अपने सारे देश और जाति के लिये प्रेम है। सन्यासी सारी सृष्टि के मनुष्यों से बल्कि प्राणि मात्र से एकजैसा प्रेम करता है, इस लिये वह सब से बढ़कर महान हृदय है। अत: "महः पुनातु हृदयं" यह वाक्य बोलते समय अपने हृदय में सारे संसार के लिये प्रेम उत्पन्न करो। और यह ख्याल करो कि सारे संसार के मनुष्य तुम्हारे भाई हैं, और तुम्हारे हृदय में सब के लि॰ प्रेम की गङ्गा बह रही है॥ इस विषय में वेद की प्रार्थना देखिये—

परिपाणमसि परिपाणं मेदा स्वाहा।
अथर्व २, १७,७॥

हे प्रभो (परिपाणम्) आप सब की रक्षा करने वाले [असि] हैं [मे] मुझे भी [परिपाणं] सब की रक्षा करने का भाव या सामर्थ [दा] दीजिये [स्वाहा] मैं स्वार्थ का पूर्ण त्याग करूं।

जनः पुनातु नाभ्याम्

सब का उत्पादक ईश्वर हमारी नाभि को पवित्र करे॥

इस का तात्पर्य यह है कि नाभि अर्थात जनेन्द्रिय की पवित्रता इस बात में है, कि उसे केवल सन्तान उत्पत्ति के लिये ही काम में लाया जावे॥ निश्चय भोग के लिये नहीं। यह शब्द हमें ब्रह्म चर्य का उपदेश करते हैं, अर्थात् मनुष्य की नाभि में जब तक [जनन शक्ति]

सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति पूर्ण रूप से उत्पन्न न हो जावे, तबतक विवाह न करना चाहिये ॥ और विवाह के पश्चात भी ऋतुगामी बन कर ब्रह्मचर्य का पालन करना उचित है। यही नाभि की पवित्रता है। इस विषय में वेद का उपदेश देखने योग्य है—

यं परिहस्तमविभरदितिः पुत्रकाम्या।
त्वष्टा तमस्या आबध्नाद् यथा पुत्रं जनादिति ॥
अथर्व० ८, ८१, ३

अर्थ—[पुत्रकाम्या] पुत्र की कामना वाली [अदिति] अखंडित व्रता स्त्री ने [यम्] जिस [परिहस्त] हाथ का सहारा देने वाले पति को [अविभः] धारण अर्थात स्वीकार किया है। [त्वष्टा] उत्पत्ति के अधिष्ठाता परमात्मा ने [तम्] उस पति को [अस्यै] इस पत्नी के लिये [आबध्नात्] दृढ बद्ध किया है, [यथा] जिस से पत्नी [पुत्रं] पुत्र को [जगत्] पैदा करे [इति] विवाह का यही प्रयोजन है ॥

इस मन्त्र में परमात्मा ने स्पष्ट शब्दों में निम्न लिखित उपदेश दिये हैं।

[१] केवल पुत्र की कामना से ही विवाह किया जाता है विषय भोग के लिये नहीं अर्थात् सन्तान उत्पत्ति ही विवाह का एक मात्र उद्देश्य है ॥

(२) स्त्री "अदिति" अर्थात् अखंडव्रता हो, अर्थात् उसने विवाह से पूर्व ब्रह्मचर्य व्रत को खंडित न किया हो ॥ इसी प्रकार से पति भी अखंड ब्रह्मचारी हो।

(३) विवाह द्वारा पति और पत्नी आपस में बद्ध हो जाते हैं। न तो पति ही दूसरी स्त्री से सम्बन्ध रख सकता है और न स्त्री ही दूसरे पुरुष से ॥ यही नाभि की पवित्रता है ॥

जो मनुष्य अपनी नाभि को पवित्र रखता है, उस की इन्द्रियों का तेज बढ़ कर सुख प्राप्त होता है और वह पूरी आयु को प्राप्त करता है वेद में लिखा है:—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥

अथर्व० ११-६-१९ ॥

अर्थ—ब्रह्मचर्य के तप से (देवाः) विद्वान लोग मृत्यु को हटाते हैं और (इंद्र) इंद्रियों का स्वामी जीवात्मा निश्चय से ब्रह्मचर्य द्वारा ही [देवेभ्यः] देव नाम इंद्रियों के सुख को बढ़ाता है ॥

भारत वासियों ने ब्रह्मचर्य को नष्ट करके अपनी नाभि को अपवित्र कर लिया है, इसी लिये उनका सुख नष्ट होकर आयु दिन प्रति दिन घट रही है ॥

तपः पुनातु पादयोः

"तपः" का अर्थ धर्म मार्ग में दुख उठाना वा दुष्टों को सन्ताप देना है। दुष्टों का सन्ताप कारी होने से परमात्मा का नाम "तपः" है अथवा केवल जीवों के कल्याण के लिये परमात्मा देव संसार को पैदा करने के झंझट में पड़ते हैं, इसलिये भी ईश्वर का नाम "तपः" है ॥ यहां परमात्मा को तप नाम से सम्बोधन करके पाओं को पवित्रता के लिये प्रार्थना की गई है। इस का कारण यह है कि पाओं सच्चे तपस्वी हैं, क्योंकि आप दुख उठा कर भी शरीर के दूसरे भागों को सुख पहुंचाते हैं। पाओं गर्म रेत में जलते हैं, उनमें कांटे लगते हैं, तो भी सारे शरीर

को उठाये फिरते है, और कभी यह नहीं कहते, कि अब हमारा काम थोड़ी देर के लिये कम करो ॥

दुष्टों को संताप देने वाले भी पाओं ही हैं। चोर दीवार तोड़ रहा है। एक पुलिस का सिपाही उधर आ निकलता है। चोर पकड़ा जाता है, जेल में भेज दिया जाता है। अब यदि विचार करोगे तो प्रतीत हो जायगा कि वास्तव में चोर को जेल भेजने वाले पुलिस के सिपाही पाओं ही हैं। क्योंकि यदि पाओं सिपाही के शरीर को उठा कर न ले जाते तो चोर कैसे पकड़ा जाता ? दुष्टों को जो यह डर होता है, कि कोई आकर हमारीदुष्टता को देख न ले उनके इस डर का कारण पाओं ही तो हैं ॥ यदि सारे ही श्रेष्ट पुरुष पग विहीन हो जायें तो दुष्ट पापी अपना पाप कर्म निर्भय होकर करेंगे, और उनको फिर किसी का भय न रहेगा ॥ इससे समझ में आगया होगा, कि तपः शब्द का चाहे कोई अर्थ लिया जावे,हर प्रकारसे पाओं में यह गुण पाया जाता है। इसीलिये इन शब्दों का पाठ करते समय इस बात का मन में ध्यान करना चाहिये, कि दुखियों की सेवा टहल करने वा निर्बलों की दुष्टों से रक्षा करने के लिये जाना ही पाओं की पवित्रता है ॥

वेद का इस बारे में उपदेश देखिये—

अपत्यं परिपन्थिनं मुषीवाणं हुरश्चितं । दूरमधि स्रुतेरज ॥

ऋ० १-४२-३ ॥

अर्थ—(त्य परिपन्थिन्) उस बटमार, (मुषीवाणं) चोर, (हुरश्चितं) कुटिल पापी को (स्रुतेः) मार्ग से (दूरम्) दूर (अधि अप अज) भगा दे।

त्वं तस्य द्वयाविनोऽघशंसस्य कस्यचित् पदाभितिष्ठ तपुषिम्

ऋ० १। ४२। ४॥

अर्थ—(तस्य द्वयाविनः) उस धोखे बाज (अघशंसस्य) पापी के (तर्पुषि) क्रोध पर अपना (पदा अभितिष्ठ)पाओं रख।

सत्यं पुनातु पुनः शिरसि

सत्य स्वरूप परमात्मा शिर शिर को पवित्र करें। शत पथ ब्राह्मण में लिखा है—

अ-मेध्यो वै पुरुषो यद् नृतं वदति।

निश्चय से वह मनुष्य अपवित्र है जो असत्य बोलता है।

शिर सारे अङ्गों में श्रेष्ट है, इस लिये उसकी पवित्रता के लिये दुबारा प्रार्थना की गई है। सत्य, असत्य का विचार करना शिर का काम है। और सत्य ज्ञान का भंडार भी मस्तिष्क ही है, क्योंकि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जो सत्य ज्ञान प्राप्त होता है वह मस्तिष्क ही में इकट्ठा रहता है।

आर्य्य समाज के तीसरे नियम में बतलाया गया है, कि "वेद सत्य विद्याओं की पुस्तक है।" अतः वेद के ज्ञान की प्राप्ति से मनुष्य का मस्तिष्क पवित्र हो जाता है, इसी लिये वेदों का स्वाध्याय प्रति दिन करना चाहिये। जैसा कि इसी नियम में आगे चल कर बतलाया गया है, "वेद का पढ़ना पढ़ाना सुनना सुनाना आर्यों का परम धर्म है।" स्वयं ईश्वर वेद द्वारा उपदेश करते हैं—

देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।

॥ अथर्व० १० । ८ । ३२ ॥

अर्थात् ईश्वर का काव्य देख जो, (सत्य ज्ञान होने के कारण) न मरता है, न जीर्ण होता है।

खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र

सर्व व्यापक ब्रह्म मेरे सब अङ्गों को पवित्र करे, वा मैं सब जगह पवित्र रहूं।

"खं" का अर्थ आकाशवत् व्यापक है। और ब्रह्म का अर्थ सब से बड़ा है, "सर्वेभ्यो बृहत्वाद् ब्रह्म" जो सब से बृहत् अर्थात् बड़ा है वह ब्रह्म है। इस वाक्य में पवित्रता का सर्वोच्च नियम बतलाया गया है। अर्थात् परमात्मा को सर्व व्यापक और सब से बड़ा समझने से ही हमारा प्रत्येक अङ्ग सब जगह और हर समय में पवित्र रह सकता है। सर्व व्यापक समझने से मनुष्य को किसी अङ्ग से भी पाप करने के लिये कहीं कोई अवसर ही नहीं मिलेगा। वह सात कोठों के भीतर भी यदि कोई पाप करना चाहेगा तो उसे ध्यान आ जायेगा कि ब्रह्म सर्व व्यापक है, वह यहां भी इस समय उपस्थित है और मुझे देख रहा है। इस लिये वह वहां भी पाप न कर सकेगा। अतः सिद्ध हुआ कि ईश्वर को सर्व व्यापक समझ कर ही मनुष्य पापों से बच सकता है।

पापों से बचने के लिये परमात्मा को ब्रह्म अर्थात् सब से बड़ा जानना भी अत्यन्त आवश्यक है। कारण यह है कि जो सब से बड़ा है, उसके पाश (बन्धन) से कौन बचा सकता है। महाराजाधिराज भी यदि कोई पाप करेगा तो परमात्मा के पाश उसे भी बांध लेंगे, और अपने पाप का फल उसे भोगना ही पड़ेगा। उसकी सारी शक्ति उसे बचा नहीं सकती; क्योंकि परमात्मा (ब्रह्म) सब से बड़ा और सर्व व्यापक है।

सर्वत्र पवित्रता वही प्रदान कर सकता है जो सर्व व्यापक हो। इस से "सर्वत्र" और "खं" (आकाशवत् सर्व व्यापक) का सम्बन्ध स्पष्ट ही है।

प्रातः काल की सन्ध्या में परमात्मा को "खं ब्रह्म" समझ कर उसके सामने प्रतिज्ञा करो कि मैं आज दिन भर कोई ऐसा कर्म न करूंगा, जिससे मेरा कोई अङ्ग अपवित्र हो जावे। सायंकाल की सन्ध्या में विचार करो, कि दिन भर में तुम्हारे किसी अङ्ग से कोई अपवित्रता का कार्य तो नहीं हुआ है।

सामाजिक पवित्रता अब तक जो कुछ कहा गया है वह व्यक्ति की पवित्रता के सम्बंध में कहा गया है। अब सामाजिक पवित्रता के भाव जो इस मंत्र में छिपे हुए हैं, उन पर विचार करना आवश्यक है। वेद में लिखा है--

ब्राह्मणोस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्या ंशूद्रो अजायत ॥
॥ यजु० ३१ । ११ ॥

इस मंत्र में गुण कर्म अनुसार जाति के विभाग का वर्णन है। (अस्य) इस जाति में (मुखम्) जो मुख (शिर) के समान सब से मुख्य अर्थात् श्रेष्ठ हो वह ब्राह्मण है (बाहू) 'बाहुवै बलं' बाहुवैं वीर्यम् (शतपथ) बल वीर्य का नाम बाहु है। जिसमें बल वीर्य अधिक हो वह (राजन्यः) क्षत्रिय है। ऊरु वैश्य है और पाओं के समान गुण रखने वाले मनुष्य शूद्र हैं।

इस में यह बतलाया गया है कि जिस प्रकार से शरीरके अलग २ भाग हैं, उसी प्रकार से गुण कर्म अनुसार जाति भी अलग २ भागों में विभक्त है।

ब्राह्मण शिर के क्षत्रिय बाहुओं के, वैश्य ऊरुके और शूद्र पैरों के समान है।

मार्जन मंत्र के पहिले तीन वाक्य ब्राह्मण की पवित्रता का विधान करते हैं "भूः पुनातु शिरसि" का भाव यह है, कि प्राणस्वरूप वा सत स्वरूप परमात्मा ब्राह्मणों को जो जाति के शिर हैं पवित्र करें। शिर ज्ञान का कोष है, इसी प्रकार से ब्राह्मण भी ज्ञान को धारण करता है। वही जाति का प्राण अर्थात् जीवन है। और जिस प्रकार से शिर कट जाने से मनुष्य की मृत्यु हो कर सत्ता नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार से जिस जाति में ब्राह्मण अर्थात् विद्वान् नहीं रहते, वह भी नष्ट हो जाती है हिन्दू (आर्य) जाति आज ब्राह्मणों के नष्ट होने से मृत-प्राय: हो रही है। हिन्दुओं का जो भाग अपने आपको ब्राह्मण कहता है वह वास्तव में ब्राह्मण नहीं है, क्योंकि उन्होंने विद्या का पढ़ना पढ़ाना छोड़ कर भिक्षा मांग कर खाना, मीन मेख द्वारा लोगों को ठगना वा शूद्र वृत्ति से पेट भरना आरम्भ कर दिया है। ब्राह्मणों के न होने से हिन्दू जाति शिर विहीन हो गई है।

आंख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा पांचों ज्ञानेन्द्रियां शिर वाले भाग में उपस्थित हैं, जिन से शिर ज्ञान उपार्जन करता है। शरीर के शेष भागों में केवल एक ही ज्ञानेन्द्रिय "त्वचा" है। इस से यह स्पष्ट है कि ज्ञान प्राप्त करने का मुख्य कार्य ब्राह्मणों का है। त्वचा दूर का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकती, किन्तु आंख, कान, और नाक दूर का भी ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि ब्राह्मण ही दूर दर्शी होते हैं। ज्ञानेन्द्रियों में नेत्र प्रधान हैं, क्योंकि सब से अधिक ज्ञान नेत्रों द्वारा ही प्राप्त होता है। वेदादि शास्त्रों का पठन पाठन भी नेत्रों द्वारा ही होता है, इस लिये दूसरे वाक्य "भुवः पुनातु नेत्रयोः" का यह आशय है कि ब्राह्मणों की (चक्षु) ज्ञानेन्द्रियां ज्ञान प्राप्ति द्वारा पवित्र हों। अर्थात्

हमारे ब्राह्मण वेदादि शास्त्रों के पठन पाठन द्वारा ज्ञान प्राप्त किया करें।

ज्ञान प्राप्ति के अतिरिक्त ब्राह्मणों का कर्तव्य क्षत्रिय वैश्यादि को उपदेश करना है, ताकि यह लोग धर्म मार्ग से च्युत न हो जावें। इसी लिये कहा है "स्वः पुनातु कण्ठे" अर्थात् हमारे ब्राह्मण कण्ठ द्वारा उपदेश करके जाति के सुख और आनन्द को बढ़ाया करें। और जाति की सारी चेष्टायें ब्राह्मणों के उपदेश अनुसार हों। अतः पता लगा, कि जाति का शिर, नेत्र और कंठ ब्राह्मण हैं। अर्थात् ज्ञाति ब्राह्मणों द्वारा विचारती, देखती और बोलती है। और सच्चे ब्राह्मणों के बिना जाति विचार हीन, अन्धी और गूंगी है। इस लिये जाति के प्रत्येक व्यक्ति को संध्या करते हुये विचार करना चाहिये कि जाति के शिर, नेत्र और कंठ में अपवित्रता तो नहीं आ गई है। अर्थात् ब्राह्मणों ने अपने कर्तव्य (ज्ञान प्राप्ति, विचार और उपदेश) का त्यागन तो नहीं कर दिया है।

शरीर में हृदय क्षत्रिय का काम करता है। इसी में बाहु भी शामिल है। हृदय और बाहुओं का काम शरीर की रक्षा करना है। वे शरीर के प्रत्येक भाग की रक्षा करते हैं। इसके अतिरिक्त हृदय के भीतर फेफड़े और दिल हैं। जो शरीर का आवश्यक अङ्ग है यही सारे शरीर के जावन का मूल्य है। फेफड़ों में लहू साफ होता है, और दिल उस साफ़ खून को सारे बदन में धकेल कर पहुंचाता है। जिससे सारे शरीर का पालन पोषण होता है। इससे विदित हुआ कि क्षत्रिय का कर्तव्य सारी जाति का पालन पोषण और रक्षा करना है। क्षत्रिय की पवित्रता "महानता" है। अर्थात् उसके हृदय में सारी जाति के लिये सच्चा प्रेम होता है। और वह बड़े, छोटे, धनी, निर्धन, सब को

एक आंख से देखता है। जब राजा न्याय आसन पर बैठता है, तो उस समय अपने पराये का भेद भाव उठ जाता है। अपने और पराये सभी एक हो जाते हैं। हृदय की अवस्था भी ऐसी ही है। उसके लिये पाओं और शिर बराबर है। वह सबको बराबर लोहू पहुंचाता है, और आवश्यकता पड़ने पर बाहुओं द्वारा सब की बराबर रक्षा करता है। यही उसकी महानता है।

लोहू शरीर के अन्दर मानो धन है, और प्राण शक्ति है। हृदय धन और शक्ति दोनों का स्वामी है, तो भी वह बाहुओं द्वारा शरीर के शेष अङ्गों की किस प्रकार से सेवा करता है। शिर को मल मल के धोता है आंखों में अञ्जन डालता है। दांतों को दातून से मलता है। गले में अङ्गुलियां डालकर हलक को साफ़ करता है। पाओं को मल मल कर धोता है, किसी भी अङ्ग में पीड़ा होने पर हाथ उसी दम वहां पहुंच जाता है, और उसकी सेवा सुश्रूषा करने लगता है राजा का भी यही कर्तव्य है। उसे भी अपने आपको जातिका सेवक समझना चाहिये। यही हृदय और क्षत्रिय की महानता है। कि बलवान और धनवान होते हुए भी वह अपने आपको निर्धनों और निर्बलों का सेवक समझता है। अतः "महः पुनातु हृदयं" इस वाक्य का भाव यह है, कि हमारे क्षत्रिय विशाल हृदय हों और अपने को जाति के सेवक समझें॥

हृदय जिस लोहू को धकेल कर सारे शरीर में पहुंचता है, वह हृदय में पैदा नहीं होता, किन्तु शरीर के उस भाग में पैदा होता है जिसे मन्त्र में "ऊरू" के नाम से पुकारा है। हमारे धड़ के बीच में एक पर्दा है जिससे अङ्गरेजी में डायाफ़राम (diaphragm)

कहते हैं, उस पर्दे के ऊपर का भाग 'हृदय" और उसके नीचे का भाग घुटनों तक "ऊरू" कहलाता है ॥ इस भाग में आमाशय, अन्तड़ियां, नाभि और जंघायें सम्मिलित हैं ॥ आमाशय और अन्तड़ियों का काम भोजन से लोहू बनाना है, और नाभि का काम वीर्य्य उत्पन्न करना है। जंघाओं के बल से मनुष्य चलता फिरता है। आमाशय जो रक्त पैदा करता है। उसे अपने पास न रख कर शेष खून में मिला देता है, और वह हृदय में पहुंच जाता है और प्रत्येक भाग को भोजन पहुंचाता है। मन्त्र में वैश्य जाति को "उरू" कहा है जिससे ज्ञात होता है कि जाति में वैश्य का काम वही है, जो शरीर में "ऊरू" का है अर्थात देशान्तरों में फिर कर और खेती और पशु पालन द्वारा "धन उपार्जन करना। उस धन को जातीय धन समझना, और सारी जाति के पालन पोषण के लिये खर्च करना, । अर्थात् राजा को कर के रूप में ब्राह्मणों को दक्षिणा के रूप में और शूद्रों को मासिक वेतन के रूप में देना कारण, कि धन उपार्जन करना केवल वैश्यों का ही काम है। और किसी का नहीं। अतः "जनः पुनातु नाभ्याम्" का यह भाव समझना चाहिये कि वैश्यों की पवित्रता धनोपार्जन और पशु पालन में है अपने लिये नहीं किन्तु सारी जाति के लिये । और विचारना चाहिये, कि हमारे वैश्यों में यह गुण पाया जाता है वा नहीं।

ब्राह्मण सारी जाति को उपदेश द्वारा धर्म मार्ग पर चलाते हैं क्षत्रिय सबकी रक्षा करते हैं और वैश्य धनोपार्जन करके सारी जाति का पालन पोषण करते हैं। अब जाति का केवल एक भाग रह जाता है जिसे शूद्र कहते हैं। यह वह लोग हैं, जो विद्या बल, बाहुबल और धन बल तीनों बलों से वञ्चित रह जाते हैं। तीनों वर्णों की सेवा करके उदरपूर्ती करते हैं, मन्त्र में उनको पाओं की उपमा दी गई है ॥

क्या पाओं शरीर का तुच्छ भाग हैं ? कदापि नहीं ! शिर. हृदय और बाहुओं को उठाये फिरते हैं। शरीर के दूसरे अङ्ग भी उन्हें तुच्छ नहीं समझते ॥ पाओं में कांटा लगता है तो शिर (ब्राह्मण) आंखों द्वारा देखता है कि कहां कांटा लगा है ? बाहु क्षत्रिय उसे निकालने का यत्न करते हैं पाओं पर मैल चढ़ जाता है. तो हाथ (क्षत्रिय किस प्रकार से उन्हें मल २ कर धोते हैं। गुरु जनों के पैरों पर ही शिर रक्खा जाता है, और पैरों ही को हाथ से छूते हैं। इसलिये सिद्ध है, कि शरीर के शेष अङ्ग पाओं को तुच्छ नहीं समझते किन्तु एक आवश्यक अङ्ग ख्याल करते हैं। हिन्दु (आर्य्य जाति ने) जाति के पैर (शूद्रों को)आज अछूत समझा हुआ है इसी से यह जाति पङ्गु बन गई है। और जातियों की दौड़ में पीछे रह गई है ॥

"तपः पुनातु पादयोः"—का यह भाव है. कि हमारे शूद्र-ब्राह्मण. क्षत्रिय. वैश्यों की सच्चे मन से सेवा करें। यही उनकी पवित्रता है और शेष वर्णों का भी कर्तव्य है कि उनका अच्छे प्रकार से पालन पोषण और रक्षण करें। और उनको अपने भाई समझें। इस विषय में वेद का उपदेश देखने योग्य है।

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वा वृधुः सौभगाय। ऋ० ५।६०।५ ॥

अर्थ— (अ-ज्येष्ठासः) इनमें कोई बड़ा नहीं है, (अ-कनिष्ठासः इनमें कोई छोटा नहीं है. (एते) ये सब (भ्रातरः) भाई हैं। और (सौभगाय) सौभाग्य अर्थात उत्तम ऐश्वर्य के लिये (सं वा वृधुः) मिलकर उन्नति का प्रयत्न करते हैं ॥

जाति में कौन छोटा और कौन बड़ा ! सब ही बराबर के भाई हैं जब तक सारे ही मिल कर उन्नति के लिये प्रयत्न न करेंगे, तब तक जाति को सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सक्ता। आर्य ।हिन्दु जाति को वेद का यह मन्त्र याद रखना चाहिये, और शूद्रों को भी अपना भाई समझ कर और उन्हें अपने साथ मिला कर जाति की उन्नति की प्रयत्न करना चाहिये।

"सत्यं पुनातु पुनः शिरसि'--सत्य ज्ञान से ब्राह्मण फिर पवित्र हों। शरीर का प्रत्येक अङ्ग ही जैसा कि ऊपर वर्णन किया है अपनी २ जगह पर आवश्यक है। परन्तु शरीर में शिर, और जाति में ब्राह्मण सर्व श्रेष्ठ हैं। और इन दोनों के अन्दर बिगाड़ आने से सब कुछ नष्ट हो जाता है। इसी कारण से एक बार फिर विचार करो, कि जाति का मुख्य भाग ब्राह्मण सत्य ज्ञान वेद के पठन पाठन द्वारा अपने आपको पवित्र करते हैं या नहीं। और उसके पश्चात् सर्व जगत् के नियन्ता सर्व व्यापक प्रभु से सच्चे हृदय से प्रार्थना करो, कि "खं ब्रह्मपुनातु सर्वत्र" हे नाथ हम पर कृपा कीजिये, जिस से हमारी जाति का प्रत्येक अङ्ग (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र) अपने २ पवित्र कर्तव्य कर्मों को पालन करता हुआ पवित्रता को प्राप्त हो जिस से हमारी जाति दीन हीन और मलीन न रहे।

(४) प्राणायाम मंत्रः

ओं भूः । ओं भुवः । ओं स्वः । ओं महः । ओं जनः । ओं तपः । ओं सत्यम् ॥

॥ तैत्तिरीय० अ० १० । अ० २० । मं० २७ ॥

अर्थ—ओ३म् वाचक परमात्मा (भूः) जगत का प्राण है। (भुवः) दुःख निवारक है। (स्वः) सुख दाता है। (महः) महान् है। (जनः) जगत् उत्पादक है। (तपः) दुष्टों को दंड देकर संताप देने वाला है। और (सत्यम्) सत्य है।

व्याख्या

र्जन के पश्चात् प्राणायाम करना चाहिये। प्राणायाम का अर्थ (प्राण + अयाम्) प्राणों का विस्तार करना है और यह प्राणों को रोक कर पुष्ट करने से होता है। यह योग के आठ अङ्गों में से एक अङ्ग है। योग के आठ अङ्ग यम, नियम, आसन, प्राणायाम्, प्रत्याहार, धारण, यान और समाधि है।

योग का पहला अङ्ग, पांच यम।

अहिंसासत्याऽस्तेय ब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः।

॥ योग० २। ३० ॥

अर्थ—अहिंसा, (मन, वचन और कर्म से किसी को पीड़ा न देना) सत्य, (जैसा मन में हो, वैसा ही कहना) अस्तेय, (चोरी न करना) ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (अर्थात् लोभ न करना—त्यागी होना) यह पांच यम कहलाते हैं।

योग का दूसरा अङ्ग, पांच नियम।

शौच सन्तोष तपः स्वध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः।

॥ यो० २। ३२ ॥

अर्थ—शौच, (हर प्रकार की बाह्य और आभ्यन्तर पवित्रता) संतोष, (जितना पुरुषार्थ हो सके उतना करके, हानि लाभ में शोक वा

हर्ष न करना) तपः (धर्म मार्ग में कष्ट सहन करना) स्वाध्याय, वेदादि सद् ग्रन्थों का पठन पाठन (ईश्वर प्राणिधान) ईश्वर की भक्ति करना । यह पांच नियम कहलाते हैं ।

अङ्ग स्पर्श और मार्जन मंत्रों की व्याख्या पर गहरी दृष्टि से विचार करोगे तो पता लग जावेगा कि संध्या में पांचों यम और पांचों नियम सभी आ जाते हैं । योग का तीसरा अङ्ग आसन है । वह भी संध्या की एक आवश्यक क्रिया है । चौथा अंङ्ग प्राणायाम है । इसके विषय में योग दर्शन में लिखा है ।

तस्मिन्साति श्वास प्रश्वासयोर्गति विच्छेद: प्राणायाम: ।

॥ योग० २ । ४९ ॥

अर्थ—आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास प्रश्वास की गति का रोकना प्राणायाम कहलाता है ।

नाक के रास्ते से प्राण वायु को भीतर ले जाना श्वास और भीतर से अपान वायु को बाहर निकालना प्रश्वास कहलाता है । इस श्वास प्रश्वास को वश में करने की क्रिया का नाम प्राणायाम है ।

प्राणायाम ४ प्रकार का होता है ।

वाह्याभ्यन्तरस्तम्भ वृत्तिर्देश काल सख्याभिः परिदृष्टो दीर्घ सूक्ष्मः ।

॥ योग० २ । ५० ॥

वाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ।

॥ योग० २ । २ । ५१ ॥

अर्थ—(१) बाह्य (२) आभ्यन्तर (३) स्तम्भ वृत्ति भेद से ३ प्रकार का प्राणायाम देश, काल और संख्या से देखा हुआ दीर्घ, सूक्ष्म होता है ॥ १ ॥

बाह्य और आभ्यन्तर (दोनों) देशों में आक्षेप करने वाला चौथा प्राणायाम है ॥ २ ॥

(१) प्राणायाम को अंदर से बाहर फेंकना बाह्य प्राणायाम कहलाता है। इसी को रेचक भी कहते हैं।

(२) बाहर से अंदर को सास लेना आभ्यंतर प्राणायाम कहलाता है। इसी का दूसरा नाम पूरक है।

(३) प्राण वायु अंदर ले जाकर, वा बाहर निकाल कर कुछ देर तक वहीं रोक रखना स्तम्भ वृत्ति वा कुम्भक प्राणायाम कहलाता है।

(४) चौथे में प्राणवायु की गति को तहां की वहां रोक देना होता है। अर्थात् यदि प्राण वायु बाहर निकलने लगे तो उसे बाहर न निकलने देना किंतु उल्टा भीतर को धकेलना और यदि प्राण वायु भीतर जाने लगे तो उसे भीतर न जाने देना. किंतु उल्टा बाहर की तरफ धकेलना "बाह्याभ्यन्तराक्षेपी" प्राणायाम कहलाता है।

अब देश, काल और संख्या के ख्याल से ऊपर लिखित चारों प्रकार के प्राणायाम में से प्रत्येक के तीन भेद हो जाते हैं।

(१) देश परि दृष्ट—अर्थात् थोड़ी दूर तक का प्राण बाहर फेंका गया है वा बहुत दूर तक का, अथवा थोड़ी दूर तक प्राण अंदर भरा गया है वा बहुत दूर तक।

(२) काल परि दृष्ट:—अर्थात् १ क्षण वा २ क्षण वा अधिक समय श्वास को निकालने, भरने वा रोकने में लगाना।

(३) संख्या परि दृष्टः—अर्थात् १ बार, २ बार, ३ बार वा अधिक बार प्राण वायु को निकालने, भरने वा रोकने की क्रिया करना ।

प्राणायाम विधि

आसन की सिद्धि के पश्चात् ही प्राणायाम लाभकारी हो सकता है अर्थात् अपनी प्रकृति के अनुसार पद्मासन वा किसी दूसरे आसन पर बहुत देर तक आसन बदले बिना बैठ सकने का अभ्यास पहिले होना चाहिये । इसके पश्चात् प्राणायाम का आरम्भ हो सकता है । आरम्भ में केवल रेचक और पूरक का ही अभ्यास करना चाहिये । अर्थात् पहिले श्वास को बाहर निकाल दे फिर भीतर ले जाय । इसी प्रकार बराबर करता रहे । अंदर वा बाहर श्वास के रोकने की चेष्टा न करे । हांफते हुये मनुष्य का श्वास जिस प्रकार से चलता है, उसी प्रकार करना उचित है । पर इस क्रिया में इस बात का ध्यान रक्खे कि श्वास को आहिस्तः २ गहरा करता जावे । हमारे प्रत्येक फेफड़े के तीन भाग हैं । ऊपर का भाग, मध्य भाग और नीचे का भाग । साधारण स्वास लेने में फेफडे के ऊपर वाले भाग की वायु ही निकलती है । मध्य भाग और नीचे के भाग की नहीं निकलती आरम्भ में जो श्वास लिये जावे वे साधारण श्वास से कुछ गहरे हों । पहिले श्वास से दूसरा श्वास अधिक गहरा हो, तीसरा और गहरा । आज अधिक से अधिक जितना गहरा श्वास लिया है, दो चार दिन पश्चात् श्वास की गहराई को थोड़ी और बढ़ा दो, यहां तक कि तुम फेफड़ों के नीचे की वायु को भी निकाल सको, और दूसरी ताज़ा वायु उस भाग में भर सको, इस क्रिया को "भस्त्रिका" कहते हैं । कारण कि इसमें (भस्त्रा) धोंकनी के समान ही श्वास उच्छ्वास लिये जाते हैं । इससे फेफड़ों का व्यायाम होता है और नाडी शुद्धि होती है । बैठक, डंड वा दौडादि से भी यह व्यायाम हो जाता है, पर इसमें यह भेद है, कि

दौड आदि में स्वयं ही गहरा श्वास चलता है, और उस पर हमारा अधिकार नहीं रहता। पर इस अवस्था में हम जान बूझ कर अपने अधिकार से श्वास को गहरा करते हैं। इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि श्वास आहिस्तः २ बाहर निकाला जावे और आहिस्तः २ ही भीतर ले जाया जावे। धक्के के साथ बाहर निकालने वा एक दम भीतर ले जाने से कभी २ लाभ की जगह हानि हो जाती है।

जब गहरा सांस लेने का कुछ अभ्यास हो जाये, तो फिर थोड़ा २ कुम्भक आरम्भ कर देना चाहिये। अर्थात् श्वास को बाहर निकाल कर थोड़ी देर के लिये उसे वहीं रोक देना चाहिये। फिर इसी प्रकार से भीतर ले जा कर श्वास को भीतर ही थोड़ी देर के लिये रोक दे। पहिली ही बार बहुत देर तक रोकने की चेष्टा न करे, किंतु आहिस्तः २ अधिक देर तक रोकने का अभ्यास करना चाहिये। जब जी घबराने लगे, तो फिर श्वास को न रोके। श्वास के साथ ज़बरदस्ती करने से कभी २ हानि हो जाती है। भस्त्रिका का अभ्यास करते समय में "ओ३म्" का जाप करे। अर्थात् जब श्वास को बाहर निकाले तब मन में "ओ३म् कहे। फिर जब श्वास को अन्दर ले जावे, तब फिर मन में "ओ३म्" का उच्चारण करे। कुम्भक के साथ भी आरम्भ में "ओ३म्" का ही जाप करे। जब अभ्यास बढ़ जावे अर्थात् अधिक देर तक श्वास रोका जा सके तो सप्त व्याहृतियों का जाप करे।

संध्या में कम से कम ३ प्राणायाम अवश्य करे। अर्थात् श्वास को बाहर निकाल कर जितनी देर सुगमता से हो सके बाहर रोके। और फिर धीरे २ अन्दर ले जा कर जितनी देर सुगमता से अन्दर रोका जा सके, अन्दर रोके, यह एक प्राणायाम हुआ। ऐसी क्रिया न्यून से न्यून तीन बार करे, अधिक बार करने का अभ्यास बढ़ाता रहे।

जब भीतर और बाहर श्वास को काफी देर तक रोकने का अभ्यास हो जावे, तो "बाह्यभ्यन्तराक्षेपी" प्राणायाम का अभ्यास करे। अर्थात् श्वास को जहां का तहां रोकदे। और यदि वह बाहर निकलना चाहे तो उसके विरुध्द उसे न निकलने देने के लिये बाहर से भीतर लें और यदि वह बाहर से भीतर आना चाहे, तो उसे भीतर से बाहर की ओर धक्के देकर रोकता जावे। इस में भी आहिस्तः २ अभ्यास को बढ़ावे, जल्दी न करे। ऐसा करने से प्राण पूर्ण रूप से अपने वश में आजाते हैं।

कुछ आवश्यक सूचनयें प्राणायाम करते समय निम्न लिखित सूचनाओं का ध्यान रक्खे।

(१) प्राणायाम करते समय झुक कर न बैठें, किन्तु सीधा तन कर बैठें। इस प्रकार से कि पीठ का बांस सीधा तना रहे और गर्दन भी पीठ के साथ सम रेखा में हो। छाती बाहर को उभरी हुई हो। ताकि फेफड़े दबे हुये न रहें, और अच्छी प्रकार से कार्य कर सकें। दृष्टि नासिका के अग्रभाग में जमादो। जब तक प्राणायाम करो एक ही प्रकार से निश्चल बैठे रहो। आसन न बदलो।

(२) श्वास नाक द्वारा लो। (न केवल प्राणायाम के समय, किन्तु हर समय) इस से वायु में जो धूल के कण, वा बीमारियों के कीट (Germs) तैरते फिरा करते हैं, वह फेफड़ों में नहीं जाने पाते, किन्तु नाक के बालों में रुक जाते हैं वा नाक के भीतर जो एक प्रकार का चिपचिपा मल होता है, उस में चिपक कर रह जाते हैं, और उस मल के साथ ही बाहर निकल जाते हैं। दूसरे नाक द्वारा श्वास

लेने से अधिक सर्द वायु फेफड़ों में नहीं जा सकती, किन्तु वह नाक में से गुजरते समय गर्म हो जाती है। अधिक सर्द वायु यदि फेफड़ों में चली जायतो हानि पहुंचाती है। वेद ने बतलाया है—

आविर्नमेषो नसि वीर्याय।

यजु० १९-९० ।

अर्थात् मेढ़े के समान लड़ने वाले संरक्षक प्राण वायु वीर्य के लिये (नसि) नाक में रक्खा है।

प्राणं न वीर्यं नसि। यजु० । २१ ४९ ॥

अर्थात्--नाक में प्राण शक्ति और वीर्य बढ़ाओ । इस से स्पष्ट है कि प्राणों का सम्बन्ध नाक से ही है; मुख से नहीं। और प्राणों के बलवान होने से वीर्य भी बढ़ता है।

नाक से श्वास लेने के लिये नाक को शुद्ध रखना आवश्यक है। जब नाक रुकी हुई हो तो लाचार होकर मुख से ही श्वास लेना पड़ता है। नाक को शुद्ध रखने के लिये नाक में ताज़ा जल चढ़ाना (जो अधिक ठंडा न हो) अत्यन्त लाभकारी है।

(३) प्राणायाम सदा साफ और खुली हवा में करो जहां सूर्य की किरणें भी पड़ती हों । घर के भीतर की बन्द वायु में प्राणायाम करने से लाभ की जगह हानि ही होती है।

[४] प्रश्न उपनिषद् में लिखा है कि—

आदित्यो ह वै बाह्य: प्राण उदयति।

प्रश्न० ३-८ ।

अर्थ—सूर्य्य निस्सन्देह बाह्य प्राण होकर उदय होता है। संसार

में जितनी जीवन-शक्ति है वह सब सूर्य से ही आती है, और वायु में स्थिर हो जाती है। इस लिये प्राणायाम करते समय मन में यह दृढ़ भावना करनी चाहिये, कि मैं उस विश्व व्यापक प्राण को, जो सूर्य द्वारा संसार को प्राप्त होता है, प्राण वायु द्वारा अपने अन्दर ग्रहण कर रहा हूं। मेरे सब अङ्गों में वह प्राण शक्ति पहुंच रही है और नवीन जीवन उत्पन्न कर रही है। इस भावना के साथ किया हुवा प्राणायाम ही लाभदायक हो सक्ता है।

(५) निम्नलिखित अवस्थाओं में प्राणायाम न करना चाहिये।

(क) भूख वा प्यास अधिक लगी हुई हो, वा भोजन अभी किया हो, वा शौच साफ़ न आया हो और पेट में अजीर्ण हो तो प्राणायाम न करना चाहिये।

(ख) नाक का श्वास रुकता हो तो प्राणायाम न करना चाहिये।

(ग) अधिक सुख वा दुःख से चित्त चंचल हो क्रोध आया हुआ हो वा किसी प्रकार शोक हो तो प्राणायाम न करना चाहिये।

(घ) शरीर में किसी प्रकार का कष्ट हो, शरीर थका हुआ हो, वा ज्वर चढ़ा हुआ हो तो प्राणायाम न करना चाहिये।

(ङ) किसी प्रकार की सुस्ती हो, वा नींद आती हो तो प्राणायाम न करना चाहिये।

(च) एकांत स्थान न हो और शोर होरहा हो तो प्राणायाम न करना चाहिये।

प्राणायाम के लाभ प्रश्न उपनिषद् में एक आख्यायिका है, कि एक समय वाणी, मन, नेत्र और श्रोत्र आदि देवों ने आपस में स्पर्धा की, और कहने लगे कि हम ही इस शरीर को धारण किये हुये हैं। तब प्राण ने उन से कहा, कि तुम धोखे में न पड़ो यह मैं ही हूं जो अपने आपको पांच भागों में बांट कर

शरीर को धारण कर रहा हूं परन्तु उन्हों ने इस बात पर विश्वास नहीं किया तब वह प्राण अभिमान से ऊपर को निकलने लगा तब वह सारे भी बाहर निकलने लगे, और जब वह वापिस हुवा, तब वह देव भी वापिस हुए। तब सब देवों ने जान लिया, कि प्राण ही हम में सर्व श्रेष्ट शक्ति है।

इस आख्यायिका का तात्पर्य केवल यह प्रगट करना है कि शरीर के अन्दर प्राण ही सर्व श्रेष्ट शक्ति है और शरीर की शेष सारी शक्तियां उसी के आधीन हैं। वेद में भी ऐसे अनेक मन्त्र हैं जिनमें प्राणों का महत्व वर्णन किया गया है "यजुर्वेद में लिखा है' 'राजा में प्राणः" यजु०२०। ५। मेरा प्राण राजा है बृहदारणयक उपनिषद में लिखा है। "प्राणो वै बलं तत् प्राणे प्रतिष्ठितम्" (बृ० ५ । १४ । ४) अर्थात प्राण ही निश्चय से बल है, वह बल प्राण ही में रहता है। प्राणे वा अमृतम्" (बृ० १ । ६ । ३) प्राण अमृत हैं । 'प्राणो वै सत्यम्" (बृ० २ । १ । २०) प्राण ही सत्य हैं। प्राणो वै यशो बलम्' [बृ० ५ । २ । ६] प्राणही यश और बल है। इन प्रमाणों से प्राणों का महत्व स्पष्ट है। जब शरीरमें प्राणही सब कुछ है तो प्राणों को वशमें करने से शरीर की सारी शक्तियाँ ही स्वाधीन हो जाती हैं। जब शरीरका राजा ही वश में आ गया तो प्रजा अपने आप ही आधीनता स्वीकार कर लेगी। प्राणायाम प्राणों को स्वाधीन करने के लिये ही किया जाता है। इसी से प्राणायाम का महत्व प्रगट है।

प्राणायाम से अनेक लाभ प्राप्त होते हैं। पर वे सब दो भागों में विभक्त हो सकते हैं, शारीरिक और मानसिक। शारीरिक लाभ तो इसी से प्रगट है कि प्राणायाम करने से फेफड़ों के भीतर की गन्दी वायु निकल जाती है और शुद्ध वायु प्रवेश कर जाती है। जिस से

लोहू शुद्ध होकर शरीर का बल बढ़ता है। और तमाम रोग नष्ट हो जाते हैं वेदों में प्राण को औषधि कहा है। आज कल योरुपयिन और अमेरिकन विद्वान भी लम्बे श्वास के महत्व को समझने लगे हैं। और मुक्त कण्ठ से उसकी प्रशंसा कर रहे हैं। प्राणायाम करने से आयु भी बढ़ती है, क्योंकि "आयुर्न प्राण:" [ऋ० १। ६६। १] प्राण ही आयु है। जब तक प्राण रहता है, तब तक ही जीवन रहता है। "प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा" [अथर्व० ३। १६। १] प्राण अपान मुझे मृत्यु से बचावें। अतः जब प्राणबलवान होगा तो वह अधिक काल तक शरीर में प्रतिष्ठित रहेगा। और इस से आयु बढ़ जायगी। इस लिये " मयि प्राणापानौ "[यजु ३६। १] मेरे अन्दर प्राण अपान बलवान रहे, यह इच्छा प्रत्येक मनुष्य के मन में होनी चाहिये! प्राणायाम से वीर्य भी बढ़ता और दृढ़ होता है। "प्राणेन सरस्वती वीर्यं" [यजु० २०। ८०] सरस्वती प्राण शक्ति के साथ वीर्य देती है।

अब मानसिक लाभों पर विचार करो। छान्दोग्य उपनिषद में लिखा है—

सयथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो, दिशं दिशं पतित्वा, अन्यत्रायतनमलब्ध्वा, बंधनमेवोपाश्रयत, एवमेव खलु, सोम्य, तन्मनो दिशं दिशं पतित्वा, अन्यत्रायतनमलब्ध्वा, प्राणमेवोप श्रयते प्राणबन्धनं हि सोम्यमनः छा० उ० ६। ८। २

अर्थ—जिस प्रकार पतङ्ग डोरी से बन्धा हुआ अनेक दिशाओं में घूम कर, दूसरे स्थान पर आधार न मिलने के कारण, अपने मूल थान पर ही आ जाता है, इसी प्रकार निश्चय से, हे प्रिय शिष्य!

यह मन अनेक दिशाओं में घूम घाम कर, दूसरे स्थान पर आश्रय न मिलने के कारण, प्राण का ही आश्रय करता है क्योंकि, हे प्रिय शिष्य! मन प्राण के साथ ही बंधा है।

इस से स्पष्ट है कि मन का प्राण के साथ विशेष सम्बन्ध है अतः प्राणों के स्वाधीन होने से मन भी स्वाधीन हो जाता है। और फिर उसे जिस विषय में लगाना हो लगा सकते हैं। इस लिये, योग शास्त्र में कहा है:

धारणासु च योग्यता मनसः। योग० २। ५३॥ अर्थात प्राणायाम से धारणाओं में मन की योग्यता हो जाती है। मन को देश विशेष में लगाने को धारणा कहते हैं। प्राणायाम से मन में यह योग्यता प्राप्त हो जाती है कि उसे जिस काम में लगाना चाहो लगादो और मन अधिक स्वाधीन होजाता है उतनी ही यह धारणा अधिक दृढ़ हो जाती है यहां तक कि मन की सारी चंचलता नष्ट होजाती है और मनको जिस विषय में भी लगा दिया जाय तब तक उसे स्वयं उस विषय से न हटाया जाय वह उसी में लगा रहता है। इसी का नाम "ध्यान" है।

मनके ऊपर जो तम का आवरण होता है वह भी प्राणायाम से नष्ट हो जाता है। इस से मन पूर्ण रूप से प्रकाशित हो उठता है और मनुष्य सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों को भी मनन कर सकता है। मन के वश में आने से इन्द्रियां स्वय वश में आजाती हैं क्योंकि मन के योग के बिना इन्द्रियां काम ही नहीं कर सकती अब मन इन्द्रियां का दास नहीं रहता किन्तु इन्द्रियां उसकी दास हो जाती हैं और उसकी आज्ञानुसार कार्य करने लग जाती हैं। और जब ऐसा हो जाता है, तो इन्द्रियों के सारे मल नष्ट होकर अन्दर पवित्रता आजाती है जैसा कि मनु महाराज ने कहा है--

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥
मनु ६। ७१ ॥

अर्थ—जैसे अग्नि में धोंके हुए "स्वर्णादि" धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही; प्राण के निग्रह [प्राणायाम] से इन्द्रियों के दोष दग्ध हो जाते हैं।

विषय अनुराग ही इन्द्रियों का दोष है, वह अनुराग अब क्षीण हो जाता है, कारण यह है कि इन्द्रियां मन के आधीन, मन प्राणों के आधीन, और प्राण हमारे आधीन होजाते है इसलिये अब इन्द्रियां भी पूर्ण रूप से हमारे आधीन होजाती हैं। अतः अब वे स्वयं भोगों की तरफ नहीं दौड़ती किन्तु हम ही उन्हें जिस विषय की तरफ ले जाते हैं, वह उसी विषय की ओर जाती हैं।

स्वविषयाऽसंप्रयोगे चित्त स्वरूपानुकार इन्द्रियाणां प्रत्याहारः योग २। ५४ ॥

जब इन्द्रियों का अपने विषयों से समागम न हो और वे चित्त के स्वरूप का अनुकरण करने लगें; उसको प्रत्याहार कहते हैं।

अब मन की वृत्तियां बाहर (इन्द्रियों) की तरफ न जा कर, अन्दर की तरफ जाने लगती हैं, तो इन्द्रियां भी बाह्य विषयों को त्याग के अन्तर्मुख हो जाती हैं। यह अवस्था जितनी देर रहती है उतनी देर तक शारीरिक दुःखों की संवेदना प्रतीत नहीं होती। और मन स्वस्थता के विचारों से परिपूर्ण रहता है।

पाठकगण ! अब समझ में आगया होगा कि प्राणायाम के कितने लाभ हैं। प्राणायाम से शारीरिक स्वास्थ और बल प्राप्त होता है, वीर्य्य की वृद्धि और स्थिरता होती है, जिस से मनुष्य ऊर्ध्व रेता बन सकता है। प्राणों के बलिष्ठ और स्वाधीन होने से आयु बढ़ती है। दीर्घ आयुष्य प्राप्त करने के जितने साधन हैं. उन में प्राणायाम सब से श्रेष्ट है। प्राणों के वश में आने से मन भी वश में आ जाता है। और मन के स्वाधीन होने से इन्द्रियां भी स्वाधीन हो जाती हैं। जब मन अपने वश में आ जाता है तो उसकी चंचलता नष्ट हो जाती है। अब उसे हम जिस स्थान वा विषय पर और जितनी देर तक लगाना चाहें लगा सकते हैं। इसी का नाम "धारणा" है जो योग का छठा अङ्ग है। धारणा की तीव्रता का नाम ही "ध्यान" है जो योग का ७ वां अङ्ग है। अर्थात् जब अभ्यास करते २ धारणा इतनी तीव्र हो जाती है, कि जिस पदार्थ की धारणा की जाती है उसके अतिरिक्त किसी भी अन्य पदार्थ की कल्पना मन में उत्पन्न न हो तो इसी का नाम ध्यान हो जाता है। धारणा में मन इधर उधर भटकना चाहता है पर ध्यान में मन ध्येय में ही स्थिर हो जाता है। ध्यान की तीव्रता का नाम ही "समाधि" है, जो योग का ८वां और अन्तिम अङ्ग है। यह गूढ़ निद्रा की सी अवस्था है। जिस प्रकार से मनुष्य गूढ़ निद्रा में अपने आपको भी भूल जाता है उसी प्रकार से मनुष्य समाधि में भी अपने आपको भूल

+तदेवार्थ मात्र निर्भासं स्वरूप शून्य मिव समाधिः। योग० ३।३

अर्थ—वही (ध्यान) जब उस में अर्थ मात्र का प्रकाश हो, अपने रूप से शून्य हो जावे, उसको समाधि कहते हैं।

सा जाता है। भेद केवल इतना है कि गूढ़ निद्रा में मन तम (अंधकार) से आच्छादित होता है, किंतु समाधि अवस्था में मन में ज्ञान का पूर्ण प्रकाश होता है। और उस प्रकाश में मन अपने ध्येय के वास्तविक स्वरूप को देखता + है।

पाठक ! यह अष्टाङ्ग योग का संक्षिप्त वर्णन है। इसको अच्छे प्रकार से समझ कर ही प्रति दिन अभ्यास करना चाहिये। ज्यों ज्यों अभ्यास बढ़ता जायेगा, मन प्रकाशित होता जायेगा, और जो विषय पहिले अत्यंत कठिन प्रतीत होते थे, अब सुगम प्रतीत होने लगेंगे और समाधि की अवस्था प्राप्त होने पर प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा के शुद्ध स्वरूप का भी ज्ञान प्राप्त हो सकेगा।

सप्त व्याहृति का जाप

प्राणायाम के समय सप्त व्याहृतियों का मानसिक जाप करना लिखा है। वे सप्त व्याहृतियां भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम् हैं। इनमें से पहिली तीन महा व्याहृतियां कहलाती है। ये अत्यंत महत्व पूर्ण शब्द हैं। व्याहृति शब्द का अर्थ गूढ़ार्थ ÷ का शब्द, रहस्य पूर्ण शब्द, ज्ञान का सांकेतिक शब्द, ऐसा है। इन शब्दों में अनेक रहस्य भरे पड़े हैं। यदि उन सब को विस्तार पूर्वक लिखा जावे, तो एक अलग पुस्तक बन सकती है। इनके कुछ अर्थों का स्पष्टीकरण मार्जन मंत्र की व्याख्या में कर चुके हैं। इनमें परमात्मा और जीवात्मा के अनेक गुणों का वर्णन है जैसा कि नीचे के कोष्टक से विदित होगा।

÷ व्याहृति (तिः) A mystical word or sound. Wilson's Sanskrit English Dictionary)

व्याहृतियाँ	ईश्वर सम्बन्धी अर्थ	जीवात्मा सम्बंधी अर्थ
१-भूः	सत्, स्वयम्भूः, विश्व का प्राण ।	सत्, स्वयम्भूः जीवन ।
२-भुवः	चित, ज्ञान स्वरूप शुद्ध स्वरूप दुःख नाशक	चैतन्य स्वरूप, शुद्ध स्वरूप, अपान, हृदय की भावना, विचार, ज्ञान प्राप्ति ।
३-स्वः	आनन्द स्वरूप, सर्व व्यापक, सर्वप्रेरक, सुख स्वरूप ।	व्यान, चेष्टा, सुख प्राप्ति ।
४-महः	महत्तम, (सब से बड़ा) महान् शक्ति ।	स्वार्थ त्याग, व्यापक प्रेम, बल प्राप्ति
५-जनः	जगत् उत्पादक ।	संतान उत्पन्न करने की शक्ति
६-तपः	तेजस्वी, दुष्टों को सन्तापकारी, सहन शील, कल्याणकारी	तेज की प्राप्ति, बल की प्राप्ति, सहन शीलता, दुष्टों पर क्रोध ।
७-सत्यम्	सत्य स्वरूप, अविनाशी, मुक्त स्वभाव, सत्य ज्ञान वेद का स्रोत ।	सत्य स्वरूप, अविनाशी, सत्य ज्ञान वेद की प्राप्ति, सत्य कर्म, मुक्ति प्राप्त करना ।

यह सप्त व्याहृतियों के ईश्वर सम्बंधी और जीव सम्बन्धी अर्थ हैं। इन अर्थों का विचार करते हुए ही सप्त व्याहृतियों का जाप करना चाहिये। हमने यह भी लिखा है, कि आरम्भ में केवल "ओ३म्" शब्द का जाप करना ही पर्याप्त है किंतु बिना अर्थ समझे जाप करना निरर्थक होता है। इस लिये यहां "ओ३म्" शब्द की कुछ व्याख्या करनी आवश्यक प्रतीत होती है।

ओ३म् शब्द की व्याख्या

सप्त व्याहृतियों की तरह "ओ३म्" भी एक अत्यंत रहस्य पूर्ण शब्द है। यह ब्रह्म का निज नाम है। और नाम तो परमात्मा के एक एक गुण को प्रगट करते हैं जैसे ईश्वर कहने से परमात्मा का केवल ऐश्वर्य का स्वामी नाम प्रगट होता है, और विष्णु कहने से केवल उसकी सर्वव्यापकता का बोध होता है शेष गुणों का नहीं, परन्तु ओम् शब्द ऐसा है जो परमात्मा के निज नाम स्वरूप का बोध कराता है। और उस के सारे ही गुणों को प्रगट करता है। उपनिषदों में इस शब्द की बड़ी महिमा वर्णन की गई है। कठ उपनिषद में लिखा है:—

सर्वेवेदा यत्पदमामनन्ति तपा ँसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरंतितत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्

क० उ० अ० १। वल्ली २। १५

अर्थ—सारे वेद जिस पद का वर्णन करते हैं, सारे तप जिस को बतलाते हैं। जिस की [प्राप्ति की] इच्छा करते हुए ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान किया जाता है।, वह पद मैं तुम्हें संक्षेप से बतलाता हूं वह ओम्. है।

तैत्तिरीय उपनिषद में लिखा है.—

ओमिति ब्रह्म । ओमितिदिँ सर्वम् तैत्तरी० शि०अनु८

अर्थ—"ओम्" यह ब्रह्म का वाचक है । "ओम्" यह सब कुछ है ।

प्रश्न उपनिषद में लिखा है:—

एतद्वै सत्यकामः परंचापरं च ब्रह्म यदोंकारः,

प्र० उ० ५ । २ ।

अर्थ—हे सत्यकाम ! यह जो "ओम्" अक्षर है यह पर और अपर ब्रह्म का वाचक है ।

इन प्रमाणों से सिद्ध है, कि "ओम्" पर और अपर ब्रह्म का वाचक है । और इसी लिये इस के अर्थों का मनन करते हुए ही मनुष्य ईश्वर को प्राप्त हो सकता है । "मुण्डक उपनिषद" में लिखा है:---

प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते !

मुं० खं० २ मं० ४ ।

अर्थ -- ओम् धनुष है, आत्मा तीर है और ब्रह्म उसका लक्ष्य [निशाना] कहलाता है । अर्थात् जिस प्रकारसे धनुष के द्वारा तीरको लक्ष्य पर लगाया जाता है, उसी प्रकार से ओम् के जाप द्वारा आत्मा से ब्रह्म रुपी लक्ष्य को बींधा जा सकता है । वही उपनिषद् हमें बतलाती है कि---

अप्रमत्तेन वेद्धव्यं । मु० २ । खं० २ । मं० ४

अप्रमत्त [पूरा सावधान] पुरुष ही उस लक्षको बींध सकता है । यह 'ओम्' शब्द का महत्व है, जो उपनिषदों ने वर्णन किया है । अब उसके अर्थों पर विचार करना उचित है । और यह देखना है, कि वह किस कारण से ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करता है ।

"सत्यार्थ प्रकाश" में लिखा है—

(ओम्) यह ओंकार शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है, क्योंकि इस में जो "अ" "उ" और "म्" तीन अक्षर मिल कर एक (ओ३म्) समुदाय हुआ है । इस एक नाम से परमेश्वर के बहुत नाम आ जाते हैं । जैसे—अकार से विराट् १ अग्नि २ और विश्वादि ३ उकार से हिरण्यगर्भ ४, वायु ५ और तैजसादि ६ मकार से ईश्वर ७, आदित्य और प्रज्ञादि नामों का वाचक और ग्राहक है । प्रकरणानुकूल ये सब नाम परमेश्वर ही के हैं ।"

हम उपनिषद् के प्रमाण से अभी बतला चुके है कि 'ओम्' 'पर' और 'अपर' ब्रह्म का वाचक है । प्राकृतिक जगत् के सम्बंध से जब ब्रह्म का वर्णन किया जाता है, अर्थात जब यह बतलाया जाता है, कि यह सारा जगत् ब्रह्म का शरीर है और वह आप इस का अन्तर-आत्मा है तो ब्रह्म के इस स्वरूप को 'अपर' वा शवल ब्रह्म का नाम दिया जाता है । किंतु इसके अतिरिक्त उस ब्रह्म का एक शुद्ध स्वरूप है जिसको इस बाह्य जगत की अपेक्षा नहीं वह 'पर ब्रह्म' का 'शुद्ध ब्रह्म' कहलाता है । अर्थात् प्राकृतिक जगत के सम्बंध का ख्याल न करते हुए वह ब्रह्म अपने आप में कैसा है ? उसका निज स्वरूप जो इस बाह्य जगत् पर निर्भर

(१) स्वप्रकाश (२) ज्ञान स्वरूप, सर्वज्ञ, जानने, प्राप्त होने और पूजा करने योग्य । (३) जिसमें आकाशादि सब भूत प्रवेश करते है अथवा जो इन में व्याप्त होके प्रविष्ट हो रहा है । (४) सूर्यादि तेजस्वी पदार्थों का गर्भ नाम उत्पत्ति और निवास स्थान (५) चराचर जगत् का धारण, जीवन और प्रलयकर्ता और सब बलवानों से बलवान (६) स्वयं-प्रकाश और सूर्यादि तेजस्वी लोकों का प्रकाशक (७) ऐश्वर्य का स्वामी (८) अविनाशी (९) निर्भ्रान्त ज्ञान युक्त, चर जगत के व्यवहार को यथावत् जानने वाला ।

नहीं है, कैसा है ? वह जैसा भी है, उसे "पर ब्रह्म" वा "शुद्ध ब्रह्म" के नाम से पुकारते हैं। माण्डूक्य उपनिषद् में 'पर' और 'अपर' ब्रह्म का ओ३म् से सम्बंध वर्णन किया गया है; और बतलाया गया है कि ब्रह्म के चार पाद हैं, पहिला पाद "वैश्वानर" दूसरा पाद "तैजस" तीसरा पाद "प्राज्ञ" और चौथा पाद "तुरीय" है। यह ब्रह्म की चार अवस्थाओं का वर्णन है। पहिली तीन अवस्थायें "अपर ब्रह्म" को और चौथी अवस्था ब्रह्म के शुद्ध स्वरुप को प्रकट करती है। "वैश्वानर" ब्रह्म की वह अवस्था है जो मनुष्य की जाग्रत अवस्था के समान है और जिसकी प्रज्ञा बाहर की ओर है. अर्थात् जिस प्रकार से जाग्रत अवस्था में जीवात्मा की शक्तियां शरीर में कार्य करती प्रतीत होती हैं उसी प्रकार से ब्रह्म की शक्तियां बाह्य स्थूल जगत में कार्य करती प्रतीत होती हैं। यह स्थूल संसार से सम्बंध रखने वाला और संसार में चेष्टा उत्पन्न करने वाला ब्रह्म का स्वरूप वैश्वानर (विश्व का नेता) है। यह ब्रह्म का पहिला पाद है, जो मनुष्य पर प्रकट होता है। और ब्रह्म प्राप्ति का यह पहिला कदम (Stage) है, कि मनुष्य इस संसार में ब्रह्म की शक्ति का अनुभव करे और उसे इस जगत का नेता समझे। "ओ३म्" शब्द का "अ" अक्षर इस प्रथम पाद को प्रकट करता है, क्यों कि जिस प्रकार से वैश्वानर ब्रह्म का प्रथम पाद है, उसी प्रकार से "अ" संस्कृत वर्णमाला का पहिला अक्षर है, और जिस प्रकार से "वैश्वानर ब्रह्म" विश्व में सर्वत्र व्याप्त है उसी प्रकार से "अ" भी वर्णमाला के सब अक्षरों में व्याप्त है। ब्रह्म का दूसरा पाद "तैजस" है जिसकी प्रज्ञा अन्दर की ओर है। यह मनुष्य की स्वप्न अवस्था के समान है। अर्थात् जिस प्रकार.

से मनुष्य का आत्मा स्वप्न अवस्था में बाह्य स्थूल शरीर सें सम्बंध न रखता हुआ आन्तरीय सूक्ष्म शरीर में विचरता है उसी प्रकार से ब्रह्म की वह अवस्था जिसमें वह सूक्ष्म जगत में कार्य करता है "तैजस" कहलाती है। ब्रह्म ज्ञानी के लिए दूसरा कदम यही है; कि सूक्ष्म जगत में भी वह ब्रह्म तेज को चमकता हुआ अनुभव करे। "उ" इस दूसरी अवस्था को प्रकट करता है क्योंकि यह उत्कृष्ट से लिया गया है जिसका अर्थ ऊंचा है। और "उ" 'अ' और 'म्' के मध्य में है। "तैजस" भी वैश्वानर से ऊंची और "वैश्वानर" और "प्राज्ञ" के मध्य की अवस्था है, इसलिए "उ" तैजस का वाचक हैं। ब्रह्म का तीसरा पाद वा तीसरी अवस्था प्राज्ञ है। यह मनुष्य की सुषुप्ति की अवस्था के समान है। जब मनुष्य इस अवस्था में होता है तो उसका आत्मा अपने स्वरूप में विचरता है। इसी प्रकार से प्रलय के समय ब्रह्म भी अपने स्वरूप में मग्न होता है और जिस प्रकार से जीवात्मा शरीर में रहते हुए भी उससे कुछ सम्बंध नहीं रखता उसी प्रकार ब्रह्म भी प्रकृति में व्यापक होते हुए भी उससे मानो कोई सम्बन्ध नहीं रखता। ओ३म् की अंतिम मात्रा "म्" ब्रह्म की इस तीसरी अवस्था को प्रकट करती है। 'म्' 'मा' धातु से बना है जिसका अर्थ मिनना है। प्राज्ञ से ही तैजस और विश्व सृष्टि के समय प्रकट होते हैं और प्रलय के समय उसी में लय हो जाते हैं, इस लिए प्राज्ञ से यह दोनों अवस्थायें मिनी हुई हैं। अथवा जिस प्रकार से 'अ' और 'उ' की ध्वनि 'म्' की ध्वनि में लय होकर शान्त हो जाती है, उसी प्रकार से वैश्वानर और तैजस यह दोनों अवस्थायें प्रलय के समय प्राज्ञ अवस्था में लय हो कर शान्त हो जाती हैं। अतः 'म्' प्राज्ञ का वाचक है। तीन पाद शवल ब्रह्म वा अपर ब्रह्म के तीन

रूप हैं, जिन्हें ओ३म् की तीन मात्राएँ "अ" "उ" और "म्" प्रगट करती है। ब्रह्म का चौथा पाद 'तुरीय' है. यह शुद्ध ब्रह्म है; यह ब्रह्म का निज रूप है इसके सम्बन्ध में उपनिषद् हमें बतलाती है:—

नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नो भयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं ना प्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणम-चिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शांतं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥

माण्डूक्य० खं ७

अर्थ—न अन्दर की ओर प्रज्ञा वाला न बाहर की ओर प्रज्ञा वाला, न न दोनों ओर की प्रज्ञा वाला, न प्रज्ञान घन, न जानने वाला, न न जानने वाला है, वह अदृष्ट है. उस को व्यवहार में नहीं ला सकते. उस को पकड़ नहीं सकते. उसका कोई चिन्ह नहीं. वह चिन्ता में नहीं आसकता, उसको बतला नहीं सकते, वह आत्मा है केवल यही प्रतीति उसमें सार है. वहां प्रपंच का झगड़ा नहीं. वह शान्त है शिव है और अद्वैत है, वह आत्मा है, वह जानने योग्य है :

यह है, ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप का वर्णन। उस में न कोई गुण कहते बनता है न इन्कार करते बनता है। वह आत्मा है, केवल यही वह सकते हैं। और जितने गुण हैं वे सब प्रकृति के सम्बन्ध से हैं। यदि हम उसे ज्ञानी कहें तो इस का यह अर्थ है कि उस से भिन्न कोई ज्ञेय पदार्थ है जिस का उसे ज्ञान है। इसी लिये वह ज्ञानी है. अतः ब्रह्म का यह गुण उस से भिन्न दूसरे पदार्थों पर निर्भर है। पर उसे अज्ञानी भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह स्वरूप से चैतन्य है। इसी

प्रकार से उस के दूसरे गुणों को समझ लो। अतः परमात्मा का यह शुद्ध स्वरूप शब्दों द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता यहां पहुंच कर वाणी मूक हो जाती है। इसीलिये उसे निषेध मुख से दिखलाते हैं। यही उस के अनुभव की रीति है। अर्थात् जब 'शबल ब्रह्म' का पूर्ण रूपसे अनुभव हो जाय, तो उसमें से प्रत्येक ऐसे गुण का जो उससे भिन्न दूसरे पदार्थों पर निर्भर है अलग करते चले जाओ। अन्त में ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप रह जायगा। वह जानने के योग्य है। यही वास्तविक ब्रह्म ज्ञान है। पहिली तीन अवस्थायें तो केवल कल्पित अवस्थायें है। ब्रह्म के निज स्वरूप में उन से कोई परिवर्तन नहीं आता।

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपंचोपशमः शिवोऽद्वैत एव-
मोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद ॥

॥ मा० खं० १२ ॥

अर्थ—अमात्र तुरीय आत्मा है, जो व्यवहार में नहीं आता जहां प्रपंच का झगड़ा नहीं जो शिव है. अद्वैत है। इस प्रकार ओंकार आत्मा ही है। वह जो इस को जानता है, वह आत्मा से आत्मा में प्रवेश करता है।

'म्' पर आकर 'ओम्' की ध्वनि समाप्त हो जाती है, परन्तु कुछ क्षण तक नाक से अपान वायु उसी प्रकार से निकलती रहती है। यह ओंकार की चतुर्थ मात्रा है. जिसे अमात्र शब्द से प्रगट किया है। (कोई २ इसे अर्ध मात्रा के नाम से पुकारते है।) कारण कि उसे किसी अक्षर से प्रगट नहीं कर सकते। और ध्वनि न होने के कारण वह दूसरे पर भी प्रगट नहीं होती। अर्थात् यह अमात्र न आंख से ग्रहण करने योग्य है न कान से इस लिये व्यवहार से बाहर है। यही 'ओम्' का

शुद्ध स्वरूप है। और यह ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप की वाचक है। जो वाणी की पहुंच से परे है, व्यवहार से बाहर है और शिव और अद्वैत है। इस प्रकार से ओंकार ही अपरब्रह्म का वाचक है। ओंकार ही पर ब्रह्म का वाचक है।

एतदालम्बन ँ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥

॥ कठ० अ० १ । व० २ । १७ ॥

अर्थ—यह (ओंकार) सब से उत्तम आलम्बन (सहारा) है, यह सब से ऊंचा आलम्बन है। वह जो इस आलम्बन को जानता है ब्रह्मलोक में महिमा वाला होता है।

वेद में भी ब्रह्म के चार पदों का वर्णन है, जैसा कि नीचे के मन्त्र से प्रगट होगा।

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

॥ ऋ० मं० १० सू ९० मं० ३ ॥

अर्थ—(एतावान्) इतनी (अस्य) इसकी (महिमा) महिमा है, (च) और (पुरुषः) पुरुष (अतः) इससे (ज्यायान्) बढ़ कर है। (अस्य पादः) इसका एक पाद (विश्वा भूतानि) सारे भूत (स्थूलजगत) हैं, (अस्य त्रिपात्) इसके तीन पाओं (अमृतं दिवि) अमृत प्रकाश में है।

अर्थात् उस ब्रह्म के चार पाद हैं, यह सारा स्थूल जगत तो, जिसे हम देखते हैं, उसका केवल एक पाद है। शेष तीन पाद उसके अमृत प्रकाश में है, जो अप्रगट हैं।

तैत्तिरीय उपनिषद् के प्रमाण से हम ने पीछे बतलाया था, कि 'ओम्' ब्रह्म का वाचक है और 'ओम्' ही सब कुछ है। ऊपर की व्याख्या से समझ में आ गया होगा, कि ओंकार किस प्रकार से पर और अपर ब्रह्म का वाचक है। अब हमने यह देखना है, कि ओंकार किस प्रकार से सब कुछ है।

सब कुछ का तात्पर्य ब्रह्म, जीव और प्रकृति है। क्योंकि इन तीनों से बाहर कोई वस्तु नहीं है। यह सारा संसार इन तीन ही अनादि पदार्थों का प्रपंच है, इस लिये विचारणीय यह है कि ओंकार किस प्रकार से ब्रह्म, जीव और प्रकृति का वाचक है।

'ओम्' 'अ' 'उ' और 'म' के संयोग से बना है, इस से 'अ' ब्रह्म का वाचक है। कारण कि 'अ' स्वर है। "स्वयं राजते इति स्वरः" जो स्वयं प्रकाशित हो वह स्वर कहलाता है। संस्कृत वर्णमाला 'स्वर' और 'व्यंजन' दो भागों में विभक्त है। स्वरों के उच्चारण के लिये और किसी वर्ण की सहायता की आवश्यकता नहीं है, इसी लिये वे स्वर कहलाते हैं। पर व्यंजन स्वरों की सहायता के बिना उच्चरित नहीं हो सकते। 'अ' स्वर है, और स्वरों में भी प्रथम अक्षर है। संसार में सूर्य आदि अनेक पदार्थ भी 'स्वर' अर्थात् स्वयं प्रकाशित होने वाले हैं, पर वे आदि प्रकाश नहीं है। आदि प्रकाश परमात्मा है उसी के प्रकाश से ये सब पदार्थ प्रकाशित हुए हैं। अतः 'अ' उस आदि प्रकाश परमात्मा को प्रगट करता है। परमात्मा सर्व व्यापक है 'अ' भी प्रत्येक अक्षर क, ख आदि में व्यापक है इसलिये भी 'अ' परमात्मा का वाचक है।

ओम् की दूसरी मात्रा 'उ' जीव को प्रगट करती है। वह भी 'स्वर' है अर्थात् स्वयं प्रकाशित है। 'अ' और 'उ' दोनों स्वतंत्र हैं। वह अपनी सत्ता चेतनता से स्वयं प्रकाशित है।

'म' माया अर्थात् प्रकृति का वाचक है। वह व्यंजन है। व्यंजन स्वरों की सहायता से प्रकाशित होते हैं। प्रकृति भी स्वयं प्रकाशित नहीं, किंतु ब्रह्म की सहायता से प्रकाशित होती है। इस लिये 'म' प्रकृति का वाचक है। अतः सिद्ध हुआ कि 'ओम्' ब्रह्म, जीव और प्रकृति का वाचक होने से सब कुछ है।

भूतभवद्भविष्यदिति सर्वमोंकारएव, यच्चान्यत्
त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव ॥

॥ माण्डूक्य० खं० १ ॥

अर्थ—भूत, भविष्यत और वर्तमान यह सब 'ओंकार' है, और जो इसके सिवाय तीनों कालों से परे है, वह भी 'ओंकार' है।

'ओम्' भूत, भविष्यत, वर्तमान, तीनों कालों का भी वाचक है; इस लिये भी 'ओम्' सब कुछ है। 'अ' भूत काल का वाचक है क्योंकि सृष्टि का आरम्भ भूत काल आदि काल में हुआ है और 'अ' वर्णमाला का आदि अक्षर है और ओम् की भी प्रथम मात्रा है। 'उ' वर्तमान काल का वाचक है, क्योंकि वर्तमान काल भूत और भविष्यत के मध्य में होता है। और 'उ' ओम् की मध्य मात्रा है। 'म्' भविष्यत काल का वाचक है, क्योंकि 'म' भविष्यत काल के समान ओम् की अन्तिम मात्रा है। और जिस प्रकार से सृष्टि भविष्यत् में लय हो जाती है। उसी प्रकार से 'ओम्' की ध्वनि मकार की ध्वनि में लय हो जाती है। अतः ओम् तीनों कालों का वाचक है। अर्ध मात्रा तीनों कालों से अतीत ब्रह्म को प्रगट करती है।

प्रश्न उपनिषद् में लिखा है —यदि कोई मनुष्य एक मात्रा (अ) वाले ओम् का ध्यान करे तो वह उसी से प्रकाशित किया हुआ पृथ्वी की ओर जाता है। ऋचायें उसको मनुष्य लोक में ले जाती हैं। वह वहां तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से सम्पन्न हुआ महिमा को अनुभव करता है। और यदि वह दो मात्रा (अ + उ) वाले ओम् से ध्यान करे, तो वह मन में पहुंचता है और उसे यजुर्मंत्र अन्तरिक्ष की ओर ऊपर चन्द्रलोक में ले जाते हैं, वह चन्द्रलोक में ऐश्वर्य भोग कर फिर वापस आता है। और यदि वह तीन मात्रा (अ + उ + म्) वाले ओम् से परम पुरुष का ध्यान करे, तो वह तेज में सूर्य में पहुंचता है। और जैसे सांप कैंचुली से छूट जाता है। इसी प्रकार वह पाप से छूट जाता है। और उसे साम मंत्र ब्रह्मलोक को ऊपर ले जाते हैं, और वह वहां यह जो जीव घन सब से परे है इससे भी जो परे सारे ब्रह्माण्ड में स्थित परम पुरुष है। उसको देखता है। इससे स्पष्ट है कि 'ओम्':—

(१) 'अ' से पृथ्वी 'उ' से अन्तरिक्ष और 'म' से 'द्यो' का वाचक है

(२) 'अ' से मनुष्य लोक 'उ' से चन्द्रलोक (पितृ लोक) और 'म' से सूर्य लोक (देव लोक) का वाचक है।

(३) 'अ' से ऋग्वेद 'उ' से यजुर्वेद और 'म' से सामवेद, का वाचक है।

(४) 'अ, से 'तप' ब्रह्मचर्य और श्रद्धा का 'उ' से ऐश्वर्य' का और 'म' से मुक्ति का वाचक है।

अतः पूर्ण रूप से सिद्ध हो गया कि ओम् सब कुछ (का वाचक) है।

इस प्रकार के भावों को जानते हुए 'ओम्' का जाप करना चाहिये।

(५) अघमर्षण मन्त्रः ।

ओ३म् ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥१॥
ओ३म् समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहो रात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥२॥
ओ३म् सूर्य्याचन्द्रमसौधाता यथा पूर्वमकल्पयत
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥३॥

ऋग० १० । १९१ । १, २, ३ ॥

ये ऋग्वेद के तीन मन्त्र हैं। इन में सृष्टि उत्पत्ति और प्रलय का वर्णन किया गया है। इनका अर्थ निम्न लिखित है—

शाब्दिक अर्थ—(ऋतम्) ज्ञान वा नियम (च) और (सत्यम्) अव्यक्त प्रकृति (अभि) सब ओर से (इद्धात्) प्रकाशमान (तपसा) तपाने वाले परमात्मा से (अधि-अजायत) उत्पन्न वा प्रगट हुए। (ततः) उसी से रात्रि प्रलयकाल [अजायत] प्रगट हुआ, [ततः] उसी से (अर्णवः) अशान्त (समुद्रः) परमाणुओं का समुद्र प्रगट हुआ ॥१॥

(अर्णवात्) उस अशान्त(समुद्रात्)परमाणुओं के समुद्र से(संवत्सरः) व्यक्त काल (अधि-अजायत) उत्पन्न हुआ। (विश्वस्यमिषतः) सब जगत् की हलचल को (वशी) वश में रखने वाले परमात्मा ने (अहोरात्राणि) दिन और रात को [विदधत्] बनाया ॥२॥

[सूर्य चन्द्रमसौ] सूर्य और चन्द्रमादि को [धाता] धारण करने वाले परमात्मा ने [यथापूर्वम्] पहिले की भांति [अकल्पयत्] बनाया [अथः] और [स्वः] सर्व व्यापक वा सुख स्वरूप परमात्मा ने [दिवम्] द्यौ लोक (च) और (पृथिवीम्) पृथिवी और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (बीच के Space) को रचा ॥३॥

भावार्थ—सब ओर से प्रकाशमान और तपाने वाले परमात्मा से ज्ञान और अव्यक्त प्रकृति प्रगट हुए, उसी परमात्मा से प्रलय काल की रात्री प्रगट हुई और उसी से परमाणुओं का अशान्त समुद्र प्रगट हुवा ॥१॥

उस परमाणुओं के अशान्त समुद्र से व्यक्त काल उत्पन्न हुआ, सब जगत की हलचल को वश में रखने वाले परमात्मा ने दिन और रात्री को बनाया ॥२॥

धारण करने वाले परमात्मा ने सूर्य और चन्द्रमा को पहिले की भांति बनाया, सर्व व्यापक वा सुख स्वरूप परमात्मा ने द्यौ लोक, अन्तरिक्ष लोक और पृथ्वी लोक को रचा ॥३॥

व्याख्या

ऋत् का अर्थ प्राकृतिक नियम* (Cosmic laws) है। परमात्मा इन नियमों का मूल कारण है। इसी कारण ईश्वर ऋतम्भर (Up holder of the cosmic laws) कहलाता है। ये सब नियम वेदों में लिखे हुए हैं। इस लिये "ऋत" का अर्थ ज्ञान वा वेद है।

'सत्' का अर्थ सत्ता युक्त पदार्थ है। ये तीन हैं ईश्वर, जीव और प्रकृति। ये तीनों पदार्थ अनादि अनन्त हैं। इन्हीं तीनों से सारा संसार उत्पन्न हुआ है, इस लिये संसार में जितने पदार्थ दिखाई देते हैं, उनकी स्वतंत्र सत्ता वास्तविक नहीं है क्योंकि वे सब पदार्थ परिवर्तन शील हैं। वास्तविक सत्ता केवल ईश्वर, जीव और प्रकृति की है। वेदों में प्रकृति का गुण केवल सत्, जीव के सत और चित ईश्वर के सत चित् और आनन्द बताये हैं, इस लिये यहां "सत्" का अर्थ मूल प्रकृति ही है। प्रलय काल में प्रकृति अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण अव्यक्त कहलाती है। अर्थात् उसकी ऐसी अवस्था होती है जो न जानने योग्य है और न ठीक २ वर्णन की जासकती है। उस समय वह अप्रकट रूप में होती है। वेद में लिखा है:—

नासदासीन्नोसदासीत् ।

ऋग्वेद १०।१२९।१

अर्थ— न उस समय असत् था न सत् था। अर्थात् प्रकृति की ऐसी

*आत्म दर्शन (श्री नारायण स्वामी) पृष्ठ १२

अवस्था थी कि न तो उसे सत् कह सकते हैं न असत्। सत् तो इस लिये नहीं कह सकते, क्योंकि उसकी सत्ता जानने योग्य नहीं होती और असत् इस लिये नहीं कही जा सकती क्योंकि वह सर्वथा सत्ता हीन भी नहीं हो जाती है। अर्थात् उस समय प्रकृति रहती है किन्तु ऐसे रूप में कि उसकी सत्ता को जानना कठिन है। इसी के सम्बन्ध में मनु महाराज कहते हैं:—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥ मनु १।५

अर्थ—प्रलय काल में यह सब न जानने योग्य, लक्षण से रहित, तर्क और स्वरूप से न जानने योग्य और सब ओर से निद्रा की सी दशा में था।

प्रलय काल समाप्त होने पर ज्ञान वा नियम और प्रकृति प्रकट होते हैं। अर्थात् अप्रकट प्रकृति कुछ स्थूल होकर प्रकट रूप धारण करती है। इस अवस्था में भी प्रकृति यद्यपि अति सूक्ष्म होती है किन्तु तो भी वह अब अव्यक्त नहीं रहती किन्तु व्यक्त हो जाती है। प्रकृति की इसी अवस्था को यहां "सत्" शब्द से वर्णन किया है। इस सत् प्रकृति में नियम वा ज्ञान पूर्वक संसार को बनाने का कार्य आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार से प्रकृति और "ज्ञान वा नियम" दोनो आरम्भ ही में प्रकट होते हैं।

किन्तु अव्यक्त प्रकृति में यह परिवर्तन स्वयं नहीं हो जाता परन्तु उसके करने वाली वह सर्व व्यापिनी परम शक्ति है जो प्रलय अवस्था में भी अव्यक्त प्रकृति के साथ रहती है। जैसा कि वेद में लिखा है—

आनीदवातं स्वधयातदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास।
ऋ० १०।१२९।२

अर्थात् उस समय प्रकृति के साथ वह एक (परमात्मा) बिना वायु के जीवित था उस से परे और कुछ नहीं था।

अभिद्धात, तपसा—इस सर्व व्यापनी शक्ति को यहां "अभिद्धात"—और "तपसा" शब्द से प्रगट किया गया है। "अभिद्धात" का अर्थ सब ओर से प्रकाशमान, और "तपसा" का अर्थ तप करने वाला या तपाने वाला परमात्मा है। और यहां उन्हीं शब्दों से परमात्मा का वर्णन करना यथार्थ भी है। कारण यह है कि वह स्वयं प्रकाशमान होने से ही प्रकृति आदि पदार्थों को प्रकाशित वा प्रगट कर सकता है। अतः अर्थात ज्ञान स्वयं प्रकाश है। वह अभिद्धातं ज्ञान स्वरूप वा प्रकाश स्वरूप परमात्मा से ही प्रगट हो सकता है। 'तप' के विषय में वेद कहता है:—

तम आसीत् तमसा गूढमग्रे प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥

ऋ० १ १२९ । ३ ॥

अर्थात प्रलयकाल में (तम्) अंधेरा था और यह सारा प्राकृतिक संसार अलग २ बिना एक सम हुआ २ उस अंधेरे में छुपा हुआ था। यह सारा कुछ उस समय तुच्छ (कुछ नहीं) से ढपा हुआ था [एकं तपसः] एक तप (परमात्मा) की (महिमा) शक्ति से (तत) वह (अजायत) प्रगट हुआ।

"प्रश्न उपनिषद् में लिखा है—

प्रजा कामो वै प्रजापतिः स तपो ऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति ॥

प्रश्न० १ । ४ ॥

अर्थ—प्रजापति को प्रजाओं की इच्छा हुई तो उसने तप तपा * और तप तपने से पीछे एक जोड़ा उत्पन्न किया।

अर्थात "रयि" (सत) और "प्राण (ऋत) इस विचार से कि यह दोनों मिल कर मेरे लिये अनेक प्रकार की प्रजाओं उत्पन्न को करेंगे।

ऐतरेय उपनिषद् में लिखा है:—

स ईक्षत लोकान्नुसृजा इति। ऐत० अ० १ खं० १। २

उसने (ईक्षत) ईक्षण किया वा सोचा कि मैं लोकों को रचूं. परमात्मा का यह ईक्षण करना वा सोचना वा "ध्यान करना" ही मानो उसका तप है। कारण, कि उसकी यह इच्छा अपने लिये नहीं किन्तु जीवों के कल्याण के लिये होती है। इस लिये वह परमात्मा का तप कहा गया है। परमात्मा ने अपनी इच्छा रूपी तप द्वारा 'सत्' और 'ऋत' को प्रगट किया।

एक और विचार से भी इस अवसर पर परमात्मा को 'अभिद्धात' [अर्थात प्रकाश स्वरूप] और "तपसः" [अर्थात तपने वाला कहना सार्थक प्रतीत होता है विज्ञानियों का कथन है कि प्रकृति की वह आदिम अवस्था जिस से स्थूल संसार उत्पन्न होता है नेबुला Nuble है। नेबुला प्राकृतिक परमाणुओं के बड़े २ ढेर हैं. जो अत्यन्त गर्म और प्रकाशित हैं। वह प्रकृति की आदिम व्यक्त अवस्था है। अतः इससे यह भाव निकलता है कि 'तप.' और "अभिद्धात" परमात्मा ने अव्यक्त

* तप=ध्यान। तपतपा=सृष्टि रचने के प्रकार के क्रम पर ध्यान दिया। पं० राजाराम।

प्रकृति को "प्रकाश" और "तप" दे कर नेबुला रूप में व्यक्त अर्थात् प्रगट किया है।

"ततः रात्रि अजायत."—इसका तात्पर्य यह है, कि जिस परमात्मा ने सृष्टि के आरम्भ में 'ऋत' और 'सत को प्रगट किया' उसी परमात्मा ने उस से पहिले प्रलय रूपी रात्री को भी उत्पन्न किया था। इस प्रलय रूपी रात्रा का वर्णन पीछे होने का कारण यह है कि 'ऋत' और 'सत' के प्रगट होने के पश्चात् ही उस रात्री का ज्ञान हो सकता है। उससे पहिले अर्थात् प्रलय+अवस्था में नहीं। कारण, कि प्रलय की अवस्था गूढ़ निद्रा के समान होती है। जिस में कुछ भी ज्ञान नहीं होता।

"ततः समुद्रः अर्णवः"—जिस प्रकार परमात्मा से पहिले प्रलय रूपी रात्रा उत्पन्न हुई थी, उसी ने प्रकृति का 'अर्णव समुद्र' प्रगट किया। 'अर्णव' का अर्थ अशान्त (Being agitated) वा कम्पायमान और 'समुद्र' का अर्थ (सं+उत+द्रु) एक हो कर उत्कर्ष के लिये प्रगति करना है। अर्थात् 'अर्णव समुद्र' का अर्थ प्रकृति का ऐसा ढेर है, जिसका प्रत्येक परमाणु (अर्णव) अशान्त है। (वा थरथराता है) और वे सारे परमाणु मिल कर एक ही लक्ष की पूर्ति अर्थात् जगत् बनाने के लिये गति कर रहे हों। यही तो विज्ञानियों का नेबुला है। अथर्व वेद के निम्न लिखित मंत्र में नेबुला का कैसा सुन्दर वर्णन है—

+"न राम्याः अह्नः प्रकेतः आसीत्" ऋग० १०। १२९। २ न रात्री या दिन का ज्ञान था।

तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे ।
तपो ह जज्ञे कर्मणस्तत्ते ज्येष्ठमुपासत ॥
॥ अथर्व० ११ । ८ । ६ ॥

अर्थ—(तपः) ताप (हरारत) (च) और (एवा) इसी प्रकार (कर्म) कर्म (हरकत) (महति अर्णवे) महान् अर्णव (नेबुला) के (अन्तः) अन्दर (आस्ताम्) थे। (तपः) तप (हरारत) (ह) निश्चय करके (कर्मणः) कर्म को (हरकत) से (जज्ञे) प्रादुर्भूत हुआ, (ते) उन्होंने (तत्) उस कर्म की (ज्येष्ठम्) ज्येष्ठ रूप से (उपासत) उपासना की।

तोप में से जब गोला निकलता है तो उसके परमाणुओं में दो प्रकार की गति होती है। एक तो यह कि उसका प्रत्येक परमाणु अलग २ थरथराता है। परमाणुओं की इस गति को ताप कहते हैं। दूसरी गति यह है कि गोले के सारे परमाणु इकट्ठे मिल कर लक्ष की तरफ दौड़े जा रहे हैं। इसी को गोले की वास्तविक गति कहते हैं। नेबुला के परमाणुओं में भी ये दोनों प्रकार की गतियां पाई जाती हैं। अर्थात् उसके परमाणु सब अलग २ थरथराते रहते हैं। इसी थरथराहट को मंत्र में अर्णव शब्द से प्रगट किया है। दूसरी गति यह है कि नेबुला के सारे परमाणु आपस में मिल कर नेबुला के केन्द्र के इर्द गिर्द घूमते हैं जिससे सृष्टि बनती है ॥ १ ॥

"अर्णवात् समुद्रात् संवत्सरः अजायत"—: अर्णवात् समुद्रात्) उस अर्णव समुद्र अर्थात् नेबुला से संवत्सर व्यक्त काल वा काल विभाग उत्पन्न हुआ। काल भी

प्रकृति के समान अनादि और अनन्त है। पर यह प्रकृति की गति से जाना और पाया जा सकता है। प्रकृति की गति के बिना काल अव्यक्त रहता है। प्रलय काल में प्रकृति शान्त और अव्यक्त रहती है इस लिये उस समय काल भी न तो जाना जा सकता है, और न माना जा सकता है। जब प्रकृति 'अर्णव समुद्र' (नेबुला) के रूप में प्रगट हुई तो काल ने भी व्यक्त रूप धारण कर लिया और जितने समय में अर्णव समुद्र का अपने केन्द्र के इर्द गिर्द एक चक्र लगता था काल का वह भाग "संवतसर" कहलाया है। (आज कल भी कोई ग्रह अपने केन्द्रभूत सूर्य के गिर्द जितने समय में एक बार घूमता है वह उस ग्रह का संवतसर (साल) कहलाता है)।

अहो रात्राणि विदधद्विश्व मिषतो वशी'—'अर्णव समुद्र' से कुछ समय के पश्चात जब पृथिवी आदि लोक बन गये और सूर्य उत्पन्न हो गया तो काल के छोटे विभाग (अहोरात्राणि विदधत्) दिन और रात्रि उत्पन्न हो गये। उनके पैदा करने वाले परमात्मा को 'वशी' नाम से पुकारा है। इसमें रहस्य यह है कि पृथिवी और सूर्य्य चन्द्रादि सब ग्रह परमात्मा के वश में हैं इसलिये एक दूसरे के गिर्द नियम पूर्वक घूमते हैं। और इसी से दिन रात उत्पन्न होते हैं यदि वह स्वतन्त्र होते तो सूर्य को छोड़ कर न जाने कहां भाग जाते और चन्द्रमा पृथिवी का साथ छोड़ कर न मालूम कहां चला जाता, और ऐसा होने पर दिन रात्रि का नियम भंग हो जाता' अथवा 'वशी' का अर्थ परमात्मा की ग्रह उपग्रहादि को वश में रखने वाली वह शक्ति है जिसे वैज्ञानिक आकर्षण शक्ति (gravity) के नाम से पुकारते हैं। यह शक्ति सारे ग्रह उपग्रहादि को एक दूसरे से बांधे रखती हैं और नियम पूर्वक घुमाती है।

सूर्य्या चन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्—सूर्य्य चन्द्रादि बहुत बड़े २ लोक हैं, ये किस प्रकार से आकाश में स्थिर हैं? इसका उत्तर मन्त्र में यह दिया गया है कि यह सब परमात्मा ने स्वयं धारण किये हुये हैं. इसी लिये उसका नाम "धाता" है। प्रकृति को भी जो प्राकृतिक संसार का आदि मूल है परमात्मा ने ही धारण किया हुआ था। उसी प्रकृति में से संसार को प्रत्येक कल्प के आरम्भ में बार २ रचता है। यह रचना प्रत्येक कल्प में अलग २ प्रकार की होती है, वा एक ही प्रकार की। इस बात का निर्णय यह तीसरा मन्त्र कर रहा है। मन्त्र कहता है कि सूर्य चन्द्रादि जितनी रचना है, वह सब पहले कल्प के समान ही की गई हैं। कारण यह है कि परमात्मा का ज्ञान पूर्ण है; इच्छा भी पूर्ण है। और उसके कर्म भी पूर्ण है। अपूर्ण ही में अदल बदल की आवश्यक्ता होती है, पूर्ण में नहीं। मनुष्य का ज्ञान अपूर्ण होता है। वह किसी वस्तु (मशीन आदि) को एक प्रकार की बनाता है। जब उसमें कोई अपूर्णता (नुक्स) प्रतीत होती है तो उसे दूर करने के लिये जब वह दोबारा उसी वस्तु को बनाता है तो उसमें कुछ अदल बदल कर देता है। परमात्मा की रचना में यह बात नहीं है। इसलिये वह प्रत्येक कल्प में समान ही होती है।

इस रचना के तीन भाग हैं (दिवम्) द्यौलोक, (पृथिवीम्) पृथिवीलोक और दोनों के मध्य में (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष लोक हैं। यह तीनों ही लोक (स्वः) अर्थात मनुष्य के लिये सुख दायी हैं। द्यौलोक कैसा सुन्दर प्रकाश देता है, अन्तरिक्ष में वायु है और मनुष्य को श्वास उच्छ्वास से सुख देती है। पृथिवी पर मनुष्य वास करता है; और भोजन, छादन आदि मनुष्य की सारी आवश्यक्तायें भी पृथिवी से

ही प्राप्त होती हैं। (स्वः)का दूसरा अर्थ सर्वव्यापक है। परमात्मा ने ही इन तीनों लोकों को रचा है। क्योंकि वह तीनों लोकों में व्यापक है ३।

तीन प्रकार की उत्पत्ति और प्रलय

उत्पत्ति और प्रलय तीन प्रकार की होती हैं (१) दैनिक [२] सामयिक [३] महा प्रलय, यह मन्त्र तीनों ही प्रकार की उत्पत्ति और प्रलय पर घट सकते हैं।

[१] दैनिक उत्पत्ति और प्रलय—दिन के समय संसार में एक प्रकार की हलचल मची रहती है। रात होते ही सारी हलचल दूर होकर संसार में शान्ति छा जाती है। [तम] अर्थात अन्धेरा सारे संसार को घेर लेता है। सब प्राणी गूढ़ निद्रा में पड़ कर सो जाते हैं। उस समय उन्हें बाह्य संसार का तो अलग रहा अपने आपका भी ज्ञान नहीं रहता, यही दैनिक प्रलय है। अब उत्पत्ति को लो। जब मनुष्य जागने लगता है, तो पहले [ऋत] ज्ञान होता है। अर्थात उसे प्रतीत होने लगता है कि मैं हूं उसके पश्चात वह आंखें खोल देता है तो [सत्य] प्रकृति प्रगट होती है। अर्थात् वह प्राकृतिक पदार्थों को देखता है। रात्रि का ज्ञान इसके साथ ही प्रगट होता है कि जब मैं सो रहा था उस समय रात्रि थी और अब दिन निकल आया है। सोते समय तो मनुष्य को रात्रि का भी ज्ञान नहीं होता। मानो रात्रि जागने के पश्चात ही मानसिक ज्ञान में प्रगट होती है बिस्तर से उठ कर जब वह मनुष्य बाहर आता है, तो [समुद्रः अर्णवः] संसार सागर प्रगट होता है जिसमें हर प्रकार की हलचल मची होती है। उस अर्णव समुद्र से ज्ञान होता है ओहो ! कितना दिन चढ़ गया, लोग अपना २ कार्य कर रहे हैं हम सुस्ती के मारे अभी पड़े सो ही रहे थे। यह सब कुछ मानो जीव ही उत्पन्न करता है। उसके सोने से ही प्रलय, और जागने से ही 'ऋत'

और 'सत्' उत्पन्न प्रगट होते हैं वही शरीर की सारी शक्तियों को वश में रखने के कारण 'वशी' है। वही दिन रात्री को प्रगट करता है। सूर्य को भी जीव आत्मा प्रगट करता है, चन्द्र को भी, द्यौ, अन्तरिक्ष और पृथ्वी को भी जीवात्मा ही प्रगट करता है। अर्थात् जीवात्मा के सो जाने पर ये सब वस्तुएं अप्रगट और जागने पर पहिले के समान ही प्रगट हो जाती हैं।

(२) सामयिक उत्पत्ति और प्रलय—जब मनुष्य मर जाता है तो वह "तम" से आच्छादित हो जाता है। यहां तक, कि उसे अपनी सत्ता का भी ज्ञान नहीं रहता। उस समय उसकी अवस्था गूढ़ निद्रा की सी होती है। उसकी तमाम क्रियायें बन्द हो जाती है, और प्रकृति भी उसके नज़दीक शान्त हो जाती है। कहावत प्रसिद्ध है, "आप मरे जग प्रलय" यह मौत का समय मानो रात्री है। यह दैनिक रात्री से बड़ी होती है, इस अवस्था में ज्ञान का सर्वथा अभाव सा हो जाता है। यह सामयिक प्रलय है।

जब बच्चा उत्पन्न होता है, तो उसके अन्तः करण में सब से पहिले अपने अस्तित्व का ज्ञान (ऋत) प्रगट होता है, "मैं हूं" फिर उसे बाहर की वस्तुओं का ज्ञान मात्र होता है। प्राकृतिक पदार्थ (सत्) को वह पीछे से जानने लगता है। और इस प्रकृति के ज्ञान की प्राप्ति के लिये उसे बड़ा कष्ट (तप) उठाना पड़ता है। इसी लिये वह "तप" है। इस ज्ञान के साथ २ ही उसे अपने जन्म से पहिले की अवस्था का, जो गूढ़ निद्रा की सी अवस्था होती है, और जिसे हम रात्री कह सकते हैं, भान होता है। स्थूल पदार्थों का पहिले ज्ञान होता है। सूक्ष्म पदार्थ आकाश और काल आदि का पीछे। कुछ बड़ा होने

पर उसे हलचल करते हुए संसार सागर (अर्णव समुद्र) का ज्ञान होता है। अर्थात् वह बड़ा हो कर समझता है कि संसार कितना महान् है। और उस में कैसी हल चल मची हुई है। दिन, रात, सूर्य्य, चान्द आदि बातों का ज्ञान भी बड़े होने पर होता है।

(३) सृष्टि उत्पत्ति और प्रलय—यह अलंकारिक वर्णन है। वह महा पुरुष जिसे ब्रह्म कहते हैं महा प्रलय में गूढ़ निद्रा की अवस्था में था। प्रलय काल समाप्त होने पर पहिले (ऋत) ज्ञान वा नियम का प्रादुर्भाव हुआ, फिर प्रकृति प्रगट हुई। [अर्थात् अव्यक्त से व्यक्त अवस्था में आई। तप या ध्यान द्वारा उसने इन दोनों को प्रगट किया। उसके पश्चात् ही महा प्रलय रूपी रात्री का ज्ञान हुआ। प्रकृति से हलचल करता हुआ परमाणुओं का समुद्र प्रगट हुआ। उससे समय विभाग उत्पन्न हो गया। जब पृथ्वी आदि लोक बन गये और सूर्य उत्पन्न हो गया, तो दिन रात्री का विभाग हो गया। दिन का अधिष्ठाता सूर्य्य और रात का चन्द्रमा उस ब्रह्म ने पहिले कल्प के समान उत्पन्न किये। सारा विश्व तीन भागों में विभक्त हुआ, द्यौ, अन्तरिक्ष और पृथ्वी तीनों भाग सुखदायी है। और तीनों ही पहिले कल्प के समान परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं।

सार

इन मन्त्रों में निम्न लिखित बातों का वर्णन है—

(१) सृष्टि उत्पत्ति और प्रलय के सूक्ष्म वर्णन है।

(२) सृष्टि प्रवाह से अनादि है। क्योंकि बार २ उत्पन्न होती है। और हर दफा पहिले के समान ही होती है।

(३) परमात्मा की शक्ति दिखलाई गई है, कि—

(क) वह बड़ा तप करने वाला व दूसरों को तपाने वाला है।

(ख) इतने बड़े विश्व की हलचल को वश में रखने वाला है।

(ग) सब का धारण करने वाला है।

(घ) ज्ञान स्वरूप और सुख स्वरूप है। इत्यादि।

(४) सृष्टि के सारे कार्य ज्ञान वा नियम के अनुसार हो रहे हैं।

अघमर्षण इन मंत्रों को अघमर्षण अर्थात् पाप निवारक नाम दिया गया है। इसका कारण यह है कि प्रकृति द्वारा ब्रह्म की शक्तियों का जब जीव को ज्ञान हो जाता है तो वह पाप कर्मों को त्याग देता है। अथर्ववेद में लिखा है —

यथा वातश्च्यावयति भूम्या रेणुमन्तरिक्षाच्चाभ्रम्।
एवा मत्सर्वं दुर्भूतं ब्रह्मनुत्तम पायति॥

॥ अथर्व० १०। १। १३॥

अर्थ—(यथा) जैसे (वातः) वायु (भूम्या) भूमि से (रेणुम) धूलि को (च) और (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (अभ्रम्) मेघ को (च्यावयति) विच्युत कर देता है। (एवा) इसी प्रकार (ब्रह्मनुत्तम्) ब्रह्म (ज्ञान) द्वारा धकेला हुआ (सर्वम्-दुर्भूतं) सब पाप (मत्) मुझ से (अपायति) दूर हट जाता है।

इसका तात्पर्य यह है कि केवल ब्रह्म ज्ञान से ही मनुष्य पापों को छोड़ कर मुक्ति को प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं। और ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति के लिये प्रकृति का ज्ञान होना आवश्यक है। इसी लिये इन मंत्रों में उत्पत्ति और प्रलय द्वारा प्रकृति का ज्ञान कराया गया है। मंत्र में यह भी बतलाया गया है, कि संसार बार २ उत्पन्न होता है। और वह पहिले के समान ही पैदा होता है। इससे मनुष्य को यह उपदेश ग्रहण करना चाहिये कि जीवात्मा भी बार २ जन्म और मृत्यु को प्राप्त करता है। इस लिये जीव एक जन्म में जो अच्छे वा बुरे कर्म करके मर जावे तो दूसरे जन्म में उसे उनका फल अवश्य भोगना पड़ेगा। फल भोगे विना कर्मों से छुटकारा हो ही नहीं सकता उसका यह विचार कि "पुनः आगमनं कुतः" सर्वथा अशुद्ध है। इस लिये मनुष्य को पाप कर्म छोड़ देने उचित हैं।

जो परमात्मा इतना शक्ति शाली है, कि सारे संसार को उत्पन्न करके अपने वश में रखता है। और प्रलय काल में नष्ट भी कर देता है, उसके राज्य में पाप करके छुटकारा दुर्लभ है। इस लिये पापों को त्याग देना ही उचित है। इन्हीं विचारों से इन मंत्रों को अघमर्षण मंत्र नाम दिया गया है।

फिर तीन आचमन्

सृष्टि उत्पत्ति और प्रलय का विचार करते हुए मनुष्य का हृदय चंचल हो उठता है। कभी वह आकाश में जाता है, कभी पाताल में। कभी वह मूल प्रकृति का विचार करता है, कभी कार्य जगत् का। मन की इसी चंचलता को दूर करके शांति प्राप्त करने के हेतु फिर तीन आचमन करने का विधान है।

(६) मनसा परिक्रमा मंत्रः

(१) ओ३म् । प्राची दिगग्निरधिपति रसितो रक्षिता ऽऽदित्या इषवः । तेभ्यो नमो ऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ॥ योऽ३ऽ स्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तंवो जम्भे दध्मः ॥

॥ अथर्व० ३ । २७ । १ ॥

शाब्दिक अर्थ—[प्राचीदिक्] पूर्व दिशा का [अग्निः अधिपति] अग्नि स्वामी वा राजा है [असितः] अंधकार से [रक्षिता] रक्षा करने वाला है [आदित्याः] सूर्य की किरणें [इषवः] वाण रूप हैं। [तेभ्यः] उनके लिये [नमः] आदर हो, [अधिपतिभ्योनमः] स्वामियों के लिये आदर हो, [रक्षितृभ्यः] रक्षकों के लिये [नमः] आदर हो, [इषुभ्यो नमः] इन वाणों के लिये आदर हो, (एभ्यः) इन सब के लिये आदर [अस्तु] हो। [यः] जो [अस्मान्] हम सब के साथ [द्वेष्टि] द्वेष करता है [यः] जिससे [वयं] हम सब [द्विष्मः] द्वेष करते है [तम्] उस द्वेष भाव को [वः] आपके [जम्भे] दाढ़ में [दध्मः] रखते हैं ॥ १ ॥

व्याख्या

शब्द मीमांसा

"प्राची दिग्" का अर्थ पूर्व दिशा है। अर्थात मुख के सामने की दिशा, वा वह दिशा जिस से प्रति दिन सूर्य्य उदय होता है। 'प्राची' शब्द 'प्रांच'(प्र × अंच्] धातु से बना है जिसका अर्थ आगे बढ़ना, उन्नति करना वा अग्र भाग में जाना है। इसलिये 'प्राची दिग्' का अर्थ उन्नति की दशा वा, वृद्धि का मार्ग है। पूर्व दिशा से प्रति दिन सूर्य्य-उदय होकर ऊपर को चढ़ता है। और ज्यों २ उन्नत होता जाता है उसके तेज में वृद्धि होती जाती है। इसलिये इस दिशा का यह नाम सार्थक ही है।

※ यत्र स्वस्य मुखं सा प्राचीदिक् । तथा यस्यां सूर्य्य उदेति सापि प्राचीदिगस्ति । (स्वामी दयानन्द, पंच महायज्ञ विधि)

"अग्नि: अधिपतिः"—सूर्य्य अग्नि पुञ्ज ही है। संसार में जहां भी अग्नि पाई जाती है वह सब सूर्य्य ही का अंश है। सूर्य्य पूर्व दिशा से उदय होता है। इस कारण अग्नि को पूर्व दिशा का 'अधिपति' अर्थात स्वामी वा राजा कहा गया है। 'अग्नि' शब्द के अनेक अर्थ हैं। (अञ्चु-गति पूजनयोः*) अग. अगि. इग इन धातुओं का अर्थ 'गति' और 'पूजा' है। इन से अग्नि शब्द सिद्ध होता है। (गतेस्त्रयोऽर्थाः ज्ञानं, गमनं, प्राप्तिश्चेति) × गति के तीन अर्थ हैं, ज्ञान. गमन और प्राप्ति। [पूजनं नाम सत्कारः) × पूजन का अर्थ सत्कार है। अत: 'अग्नि' शब्द का अर्थ ज्ञान स्वरूप सर्वज्ञ होने से 'परमात्मा' ब्रह्म ज्ञानी होने से ब्राह्मण*, गतिस्वरूप और प्रकाशक होने से 'भौतिक अग्नि होता है। (अग्निः=अग्रणी*) अग्नि का अर्थ आगे २ चलने वाला-नेता (Leader) भी है। ब्राह्मण ही जाति का सच्चा नेता होता है। ईश्वर भी सारे संसार का नेता है। भौतिक अग्नि देवताओं का नेता है।

'असित—' अब असित शब्द पर विचार करना चाहिये।

सितासितमितिवर्णनाम तत्प्रतिषेधोऽसितम् ।

निरुक्त० अ० ९ । खं० २

सितं शुक्र वर्णमसितं तस्य निषेधः । तयोःप्रकाशान्धकारयोः

[ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, स्वामी दयानन्दकृत पृष्ठ ३१९)

---

*सत्यार्थप्रकाश × ब्रह्माग्निः । शतपथ अ० ४ । ब्रा २ ।
(अर्थ)निश्चय से अग्नि ही ब्राह्मण है।
*अग्नि कस्मात् ? अग्रणीर्भवति (निरुक्त दैवतकाण्ड ४थ पाद)

अर्थात 'सित' शुक्लवर्ण, औरउसके विरोधी रङ्ग का नाम ' अ-सित' है। अतः 'असित' का 'अर्थ' कृष्ण, काला और अंधेरा है।

'आदित्य'—(दो-अव खण्डने) धातु से 'दिति' शब्द बनाता है जिसका अर्थ 'खंडित' है। 'अ-दिति' का अर्थ अखंडित हुआ। और इस से तद्धित करने से 'आदित्य' शब्द सिद्ध होता है। अतः 'आदित्य' का अर्थ 'अखंडित' है। सूर्य की किरणों को भी कहते हैं।

'इषु'—[ईष्-गतौ] धातु से बना है। बाण बड़े वेग से गति करता है और शत्रुओं में भी 'गति' अर्थात हलचल उत्पन्न कर देता है, इस लिये 'इषु' का अर्थ बाण है।

मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ [प्राचीदिक्] उन्नति की दिशा का [अधिपति] स्वामी [अग्नि] ज्ञान स्वरूप परमात्मा है। वह [असित] अज्ञान रूपी अन्धकार से [रक्षिता] वेद ज्ञान द्वारा रक्षा करता है [आदित्य इषवः] आदित्य, ब्रह्मचारी जिन्हों ने ४८ वर्ष का पूर्ण ब्रह्मचर्य धारण करते हुए वेद ज्ञान प्राप्त किया है, उसके बाण हैं। भावार्थ यह है कि अज्ञान उन्नति का शत्रु है। ज्ञान स्वरूप परमात्मा ने वेद का ज्ञान मनुष्य को इस लिये दिया है कि उस से अज्ञान अन्धकार नष्ट होकर मनुष्य उन्नति कर सके। और जिन लोगों ने पूर्ण ब्रह्मचर्य को धारण करके चारों वेदों का ज्ञान प्राप्त किया है वे ही विद्वान लोग जाति के अग्रगी बन कर जाति को उन्नति की दिशा में चला सकते हैं।

आधिदैविक अर्थ [अग्नि] * सूर्य पूर्व दिशा का स्वामी है। क्योंकि, अग्नि पुन्ज सूर्य पूर्व दिशा से

* उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते [निरुक्त-देवता काण्ड ४र्थ पाद]। अर्थात उत्तरे ज्योतिये [विद्युत, सूर्य] भी अग्नि कहलाती हैं।

ही उदय होता है। वह अग्नि [असित] अन्धकार से हमारी रक्षा करता है। क्योंकि सूर्य्य के उदय होते ही अन्धकार भाग जाता है। इस अन्धकार रूपी शत्रु को राजा अग्नि किन बाणों से मार कर भगाता है ? मन्त्र कहता है, कि [आदित्य] सूर्य्य की किरणें ही राजा अग्नि के बाण हैं। उन्हीं से वह अन्धकार को नष्ट करता है।

आधिभौतिक अर्थ

[प्राचीदिक्]। हमारे अग्रभाग का अधिपति [अग्नि] ब्राह्मण है। वह [असित] अज्ञान से हम सबकी रक्षा करता है। [आदित्य :] अखंड ब्रह्मचर्य ही उसके बाण हैं। वा— हमारे अग्र भाग का अधिपति [अग्नि] अग्रणी नेता है। अथवा हमारा नेता हमारे आगे २ चले और हम उसके पीछे २ चलें। वह हमारी रक्षा करता हुवा हमें [असित] बन्धन रहित बनाता है अर्थात हमें दासता के बन्धन से छुड़ाता है। [आदित्य] न टूटने वाला धैर्य्य ही उसके बाण रूप है। वा यूं कहो कि उसके बाण अखंडित हैं। अर्थात जो नेता [अग्नि] तेजस्वी और ज्ञानी हो और सारी जाति उसके पीछे २ चलने को तय्यार हो तो फिर उसके बाणों को कौन काट सक्ता है ?। अर्थात कोई नहीं।

इस प्रकार से इस मन्त्र में अनेक सुन्दर भाव भरे हुए हैं ना. पाठक स्वयं विचार करें।

अब मन्त्र के शेष भाग पर विचार करना है। नमः शब्द के अनेक अर्थ हैं। यह [नम्] धातु से बनता है, जिसका अर्थ है किसी के सामने झुकना,-आधीन होना, आज्ञा पालन करना, नम्र होना

झुकना, गाड़ना, दाबन, कम होना, बोलना, रोकना, प्रतिबन्ध करना, संरक्षण करना, एक तरफ करना, अलग करना, निकाल देना, शान्त करना इत्यादि, इस लिये नमः के अर्थ हुए, नमस्कार, आज्ञापालन, नम्रता, आधीनता, निरनन, वन्दन, वक्तृत्व, प्रतिबन्ध, मनाई, रोक, संरक्षण, खबरदारी, शान्ति, स्थिरता, दबाव, अलहदगी, इत्यादि (रुद्र देवता का परिचय-सात्वलेकर) नमः के निघण्टु में दिये हुए अर्थ = "नमः-अन्न नामसु" [निघ० २। ७] नमः "वज्रनामसु" [निघ०-२।२०] "नमस्यति परिचरण कर्मसु" [निघ०-३। ५] अर्थात अन्न, शस्त्र, दण्ड, पूजा, सत्कार, सहायता ॥

"तेभ्योनमो ऽधिपतिभ्यो नमो"—

उन अधिपति रक्षक और बाणों आदि के लिये हमारे मन में सत्कार होना चाहिये, तभी हम उन से लाभ प्राप्त कर सकते हैं। अर्थात ईश्वरकी भक्ति, ज्ञान कोप्राप्ति, आदित्य ब्रह्मचारियों का सत्कार, और अज्ञान से घृणा होनी चाहिये। इसी प्रकार से मन्त्र के दूसरे अर्थों में भी नमः का यथा योग्य अर्थ लगाना उचित है।

"योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं"

जो अपनी दुष्टता के कारण (अस्मान्*) हम धार्मिक पुरुषों से द्वेष करता है। या (यं) जिस दुष्ट का (वयं) हम सब (उसकी दुष्टता के कारण) द्वेष करते हैं, उस दुष्ट को हम स्वयम् कुछ न कहते

*अस्मान्—अस्मत्=अस् + मत्=अस्ति + मन्=आस्तिक्य बुद्धि धारण करने वाला, आस्तिक धार्मिक (सात्व लेकर-संध्योपासना)

हुए उस अधिपति तथा उसके बाणों आदि की दाढ़ में रखते हैं। वा, उस द्वेष भाव को हम उनकी दाढ़ में रखते हैं। अर्थात् हमें पूर्ण निश्चय है, कि दुष्ट को उसकी दुष्टता का फल अवश्य मिलेगा। अर्थात् ईश्वर ने जो रक्षक नियत किये हुए हैं, वही दुष्टों का नाश करेंगे, जैसे अन्धकार का नाश आदित्य की किरणें कर देती हैं। इस लिये हमें द्वेष के भाव हृदय से निकाल देने चाहिये। वेद में लिखा है—

द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेवपारय।
अपनः शोशुचदघम्॥

॥ अथर्व० ४। ३३। ७॥

अर्थ—(विश्वतो मुख) हे सब ओर मुख वाले परमात्मा (इव) जिस प्रकार से नाविक (नावा) नौका द्वारा यात्रियों को नदी के पार करता है, वैसे ही आप (नः) हमें (द्विषः) द्वेष नद से (अतिपारय) पार कीजिये। (नः) हमारा (अघम्) पाप (अप) हम से पृथक् हो कर (शोशुचत्) दग्ध हो जाय।

(२) ओ३म्। दक्षिणादिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो नमो.... (पहिले मंत्र के समान)

॥ अथर्व० ३। २७। २॥

शाब्दिक अर्थ—(दक्षिणादिक्) दक्षिण दिशा का (इन्द्रः अधिपतिः) इन्द्र स्वामी है। (तिरश्चिराजी) टेढ़े चलने वालों की पंक्ति से (रक्षिता) रक्षा करता है। (पितरः) पितर (इषवः) उसके बाण हैं। शेष पहिले मंत्र के समान।

व्याख्या

शब्दों की मीमांसा "दक्षिणा दिक्"—'दक्षिण' का अर्थ ठीक, योग्य, प्रवृद्ध, सीधा और सच्चा है। यह "दक्ष-वृद्धौ" धातु से बना है। इस लिये 'दक्षिण दिशा' का अर्थ भी वृद्धि की दिशा वा उन्नति का मार्ग है। वृद्धि के लिये सीधे और सच्चे मार्ग से चलना उचित है।

जिस हाथ से भोजन करते हैं, उसे दक्षिण हाथ कहते हैं। वृद्धि वा उन्नति के सारे कार्य इसी से किये जाते हैं। बायें हाथ से यह हाथ अधिक उन्नति किये हुए (सधा हुआ) होता है। शिल्पकार इस हाथ से वह २ कार्य करते हैं कि मनुष्य देख के अचम्भित रह जाता है। लिखने वा आलेख्य (Drawing) का कार्य भी इसी हाथ से होता है। अङ्गरेजी में इसे (Right Hand) अर्थात् 'ठीक' वा 'प्रत्येक कार्य के लिये 'योग्य' हाथ कहते हैं।

जब मनुष्य पूर्व*दिशा की ओर मुख करके बैठता है तो जो दिशा उसके दक्षिण हाथ की होती है वह दक्षिण दिशा कहलाती है।

"इन्द्रः"—दक्षिण दिशा का स्वामी इन्द्र है। "इदि-परमैश्वर्ये" इस धातु से "रन्" प्रत्यय करने से "इन्द्र" शब्द सिद्ध होता है। "य इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्रः परमेश्वरः" जो अखिल ऐश्वर्य-युक्त है इससे उस परमात्मा का नाम "इन्द्र" है। (सत्यार्थ प्रकाश)

इन्द्रः—"इन्दन् शत्रूणां द्रावयिता द्रारयिता वा" (निरुक्त, १०।८) शत्रु का निवारण करने वाला, विजयी। अर्थात् राजा वा

*संध्या भी पूर्वाभिमुख बैठ कर करनी चाहिये।

क्षत्रिय का नाम इन्द्र है। 'इन्द्रः सत्यः सम्राट्' (ऋ० ४। २१। १०) सच्चे सम्राट् को इंद्र कहते है। "इन्द्रायातोऽ सिनरतगाजा" (ऋ० १। ३२। १५) स्थावर जंगम का राजा इन्द्र है। इन प्रमाणों से सिद्ध है कि 'इन्द्र' का अर्थ राजा है।

"इन्धी—दीप्तौ" धातु से भी इन्द्र शब्द सिद्ध होता है। जिस का अर्थ प्रकाश करना है। विद्युत् वड़ी दीप्तिवान् होती है इस लिये इन्द्र का अर्थ बिजली है। "इन्द्रं प्रातर्हवामहे" (ऋ० १। ४। १६।२) के भाष्य में महर्षि स्वामी दयानंद सरस्वती जी महाराज लिखते हैं, "प्रति दिनमिंद्रं विद्युद्रास्वब्दमग्निं हवा महे" अर्थात् (इंद्रम्) उत्तम ऐश्वर्य साधक विद्युत् अग्नि को (हवामहे) क्रियाओं में उपदेश कह सुन कर संयुक्त करें। इससे सिद्ध हुआ, कि 'इन्द्र' का अर्थ बिजली भी है।

"(इन्द्रः) अग्निर्विद्युत सूर्योवा" (देखो ऋग्वेद भाष्य मं० १ अ० ४ सू० १७ मं० ५) इंद्र का अर्थ अग्नि, बिजली और सूर्य है। ठीक दो पहर के समय जब कि सूर्य आकाश पर ऊंचे से ऊंचा प्रतीत होता है तो उत्तरीय गोलार्ध में वह दक्षिण की तरफ़ होता है। उस समय उसकी दीप्ति अधिक से अधिक होती है। उसी सूर्य का नाम इंद्र है "इंद्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम्" (अथर्व० १३। ३। १३) वह इंद्र होकर मध्य से द्यौ को तपाता है। अर्थात् 'इंद्र' का अर्थ प्रदीप्त सूर्य्य भी है।

"तिरश्चिराजी"—(तिरश्चि) तिरछी (राजी) लकीर पंक्ति—टेढ़े तिरछे (पापमय) विचार वा कर्म या टेढ़े तिरछे × चलने वालों की

× यजु० १। २ में "माह्वा" शब्द आये हैं। टेढ़ा न बनो, कुटिल न बनो। "ह्व" का अर्थ कुटिल बनना है। यहां "तिरश्चिराजी" का अर्थ भी कुटिल लोगों की पंक्तियां ऐसा है।

पंक्तियां, अर्थात् चोर, उचक्के, ठग और बदमाश लोग । वा जो*पदार्थ कीट पतङ्ग वृश्चिक आदि तिर्यक कहाते हैं उनकी (राजी) जो पंक्ति है ॥" अतः "तिरश्चिराजी" के अर्थ हैं टेढ़े तिरछे पापमय विचार वा कर्म चोर उचक्के आदि बदमाश लोग, और अनेक प्रकार के छोटे २ कृमि (Germs) जो सदा टेढ़े तिरछे चलते व उड़ते हैं और अनेक प्रकार के रोग फैलाते हैं।

'पितरः'—पितर शब्द का मुख्य अर्थ पालक वा रक्षक है। 'पितरः'— पिता का बहुवचन है। निरुक्तकार पिता शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

"पिता माता वा पालयित्तावा"

अर्थात् पिता पालन या रक्षा करने से कहा जाता है। "यः पालयति स पिता" जो सन्तानों का पालन करता है, वह पिता है। "यः पाति स पिता" जो रक्षा करता है, वह पिता है। सायणाचार्य कहते हैं, "पितरः पालका देवाः पितरो जगद्रक्षका रश्मयः" अर्थात् पितृ शब्द का अर्थ (पालकः) पालक (देवा) देव और (जगद्रक्षका रश्मयः) जगत की रक्षक सूर्य किरण है। (ऋतवः पितरः) शतपथ में पितृ का अर्थ ऋतु लिखा है। पितृ शब्द के सम्बन्ध में निम्न लिखित वेद मन्त्र भी विचारणीय है—

स्वादु संसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्ति मन्तो गभीराः
चित्र सेना इषुबला अमृध्रा सतो वीरा उरवो व्रात साहाः

ऋ० ६ । ७५ । ९ ॥

*देखो पंच महायज्ञ विधि (स्वामी दयानन्द) पृष्ठ २०]

अर्थ— (पितरः) पितर वे हैं, [स्वादु संसदः] जिनकी संगति अच्छी हो, [वयोधा] बड़ी आयु के धारण करने वाले वा जीवन देने वाले हों। [कृच्छ्रे श्रिताः] कठिन समय में आश्रय करने के योग्य हों। [शक्ति मन्तः] शक्तिशाली, [गभीराः] गंभीर [चित्र-सेना] और विविध प्रकार की सेना से युक्त हों। [इषुबला] बाणों का बल धारण करने वाले, [सतो वीराः] सत्य पक्ष के लिये वीरता से लड़ने वाले. [अ-मृधाः] कभी न दबने वाले और [व्रात साहाः] शत्रुओं के आक्रमण को सहने वाले हों।

इस मंत्र में स्पष्ट रूप से क्षत्रियों के गुण बतलाये गये हैं।

अतः सिद्ध हुआ कि ईश्वर, पिता, राजा पुलीस के सिपाही सैनिक, सूर्य की किरणें और ऋतुएं आदि संसार में जितने भी पालक व रक्षक हैं वे सब ही पितृ शब्द से कहे जाते हैं।

मंत्र का आध्यात्मिक अर्थ [दक्षिणा दिक्] वृद्धि की दिशा का [इंद्रः अधिपतिः] परमेश्वर स्वामी है। [तिरश्चिराजी] ऐश्वर्य प्रदान करके चोरी आदि कुकर्मों का पाप युक्त विचारों से [रक्षिता] रक्षा करता है [पितरः] पालन करने वाले राजा, पिता गुरु आदि उसके बाण हैं।

भूखा मनुष्य चोरी, ठगी आदि अनेक कुकर्मों को करता है किंतु जिन मनुष्यों को [इंद्र] ऐश्वर्य के स्वामी ईश्वर ने ऐश्वर्य प्रदान किया हुआ है वे ऐसा कुकर्म कभी नहीं करते. मानो परमात्मा ने हमें सारा ऐश्वर्य इस प्रकार के पाप युक्त कर्मों से रक्षा करने के निमित्त ही दिया है। पिता वा गुरु आदि पितर भी पालन पोषण और उपदेश द्वारा इस

प्रकार के कुकर्मों से बालक की रक्षा करते हैं। वे मानो परमात्मा के बाण हैं जो हमारे ऐसे विचारों का छेदन भेदन कर देते हैं। इसी प्रकार से ऐश्वर्य के स्वामी राजा का भी यह कर्तव्य है कि दुर्भिक्ष आदि के समय प्रजा को अन्नादि से पालन करें। और इस प्रकार से मनुष्यों के हृदय में चोरी आदि का विचार उत्पन्न होने न दें, और पालन पोषण होने पर भी यदि कोई मनुष्य चोरी ठगी आदि कर्म करे, तो जिस प्रकार से बाण लक्ष को बींध देता है, उसी प्रकार उन दुष्टों को अनेक प्रकार के दण्ड देवे मानो राजा भी ईश्वर का बाण है जो भले लोगों की रक्षा के लिये और दुष्टों को बींधने के निमित्त चलाया गया है। दुष्ट कर्मों का त्याग करके सीधे और योग्य कर्म करना ही वृद्धि व उन्नति का मार्ग है।

अधि दैविक अर्थ

[दक्षिणादिक्] दक्षिण दिशा का [इंद्रः अधिपति] [घन] विद्युत राजा है; रोग उत्पन्न करने वाले कृमियों से (रक्षिता) रक्षा करता है (पितरः) विद्युत विद्या को जानने वाले विद्वान*बाण हैं।

दक्षिण दिशा का विद्युत से विशेष सम्बन्ध है यह विज्ञान सिद्ध बात है (इसकी विशेष व्याख्या के लिये यहां स्थान नहीं है) विद्युत विद्या के जानने वाले विद्वान वैद्य विद्युत द्वारा रोग जंतुओं का नाश करके जनता की रोगों से रक्षा करते हैं इसलिये वे बाण के समान हैं।

दूसरा अर्थ

(दक्षिणा दिक्) दक्षिण दिशा का (इन्द्रः) दोपहर का प्रदीप्त सूर्य्य (अधिपतिः) राजा है।

---

* इस प्रकार के विद्वान "अग्निष्वात्ता पितर" कहलाते हैं।

(तिरश्चिराजी), चोर उचक्कों से (रक्षिता) रक्षा करता है (अन्न फलादि उत्पन्न करके) (पितरः) ऋतुऐं उसके बाण हैं।

दोपहर के समय सूर्य्य सदा दक्षिण को दिखाई देता है। इसी लिये वह दक्षिण दिशा का स्वामी है। कभी वह दक्षिण को अधिक झुका हुआ होता है, और कभी कम। जब कम झुका हुआ होता है, तो ग्रीष्म और अधिक झुका होता है तो शरद ऋतु होती है। अर्थात् दोपहर के समय सूर्य्य के दक्षिण दिशा में ऊंचा व नीचा दिखाई देने से ही ऋतुओं का अदल बदल होता है। इस से समय समय पर अनेक प्रकार के अन्न और फलादि भोज्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इसी लिये ऋतुएं भी "पितर" कहलाती हैं। जब अन्नादि खूब उत्पन्न होते हैं तो चोरी, ठगी आदि कम हो जाती है। मानो ऋतुएं उत्तम २ अन्न फलादि उत्पन्न करके चोरादिकों से श्रेष्ठ पुरुषों की रक्षा करती हैं, इस लिये वे बाण हैं। तिरश्चिराजी का अर्थ तिरछी किरणें भी हो सकता है। दोपहर का सूर्य दक्षिण दिशा में जितना अधिक झुका हुआ होता है, किरणें उतनी ही अधिक तिरछी होती हैं। और इसी से ऋतुएं उत्पन्न होती है, जो मनुष्यों की अनेक प्रकार से रक्षा करती हैं। प्रदीप्त सूर्य रोग-जन्तुओं का भी नाश करता है। एक ऋतु में उत्पन्न हुए रोग ऋतु बदलने पर नष्ट हो जाते हैं। मंत्र के शेष भाग का अर्थ पहिले मंत्र के समान ही समझो।

(३) ओ३म्। प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः॥ तेभ्यो नमो, ... [पहिले मंत्र के समान]

॥ अथर्व० ३। २७। ३॥

शाब्दिक अर्थ (प्रतीचीदिक्) पश्चिम दिशा का [वरुणः अधिपतिः] वरुण राजा है [पृदाकुः रक्षिता] अजगर सर्पों से रक्षा करता है [अन्न इषवः] अन्न उसके बाण हैं । शेष पहिले मंत्र के समान ।

व्याख्या

शब्दों की मीमांसा "प्रतीचीदिक्"—"प्रत्यंच"—अंदर आना, अन्तर्मुख होना । "प्रतीचीदिक्" शांति की दिशा, अंदर मूल स्थान पर आने की दिशा, स्वस्थान पर आने का मार्ग, अन्तर्मुख होने का मार्ग, यह इस शब्द के मूल अर्थ है । (संध्योपासना सात्व लेकर)

'प्रतीचीदिक्' पश्चिम दिशा का नाम है और विचारने से प्रगट होगा, कि पश्चिम दिशा का यह नाम कितना सार्थक है। कारण कि सूर्य और नक्षत्रादि पूर्व दिशा से उदय हो कर ऊपर को उठते हैं। किंतु पश्चिम दिशा में पहुंच कर वे नीचे को उतरते हैं, और अस्त हो जाते हैं । उसी समय मनुष्य भी दिन भर की दौड़ धूप करके अपने घर वापिस लौटते हैं और अपने घर में शांति के साथ रात्री भर आराम करते हैं। अंतर्मुख होने अर्थात् ध्यान करने के लिये भी यही समय उत्तम है । अतः (प्राचीदिक्) पूर्व दिशा प्रवृत्ति की और (प्रतीचीदिक्) पश्चिम दिशा निवृत्ति की दिशा है ।

'वरुण'—वरुण पश्चिम दिशा का स्वामी अर्थात् राजा है । [वृञ-वरणे, वर ईप्सायाम्] इन धातुओं से उणादि "उनन्" प्रत्यय होने से "वरुण" शब्द सिद्ध होता है । जो मुक्ति की इच्छा करने वाले

धर्मात्माओं से ग्रहण किया जाता है, वह ईश्वर "वरुण" संज्ञक है। अथवा (वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः) सब से श्रेष्ठ होने के कारण परमात्मा का नाम वरुण है।

"वरुणः—जल वाय्वश्चन्द्रो ।" अर्थात् वरुण का अर्थ जल, वायु वा चन्द्रमा है। (ऋग्वेद भाष्य, स्वामी दयानंद) इसका यह कारण है कि ये तीनों ही वस्तुऐं ग्रहण करने योग्य हैं। हम जल को प्यास बुझाने, स्नान करने और ऐसे ही अनेक कार्यों के लिये प्रति दिन ग्रहण करते हैं, और पीने की वस्तुओं में वह सर्व श्रेष्ठ है वायु को भी हम श्वास लेने के लिये ग्रहण करते हैं इसके बिना एक क्षण के लिये भी जीवित रहना कठिन है। चन्द्रमा कितना सुंदर है वह मन को आल्हाद देने वाला और आंखों को सुंदर प्रतीत होता है इसी कारण जब नया चंद्र निकलता है तो प्रत्येक स्त्री, पुरुष उसके दर्शनों के लिये दौड़ता है। वह मन को शांत करने वाला है।

"वरुण" शब्द का अर्थ वैश्य भी है क्योंकि वह सब प्रकार का धन और अन्न फलादि खाद्य पदार्थ उत्पन्न करके जाति का पालन पोषण करता है और इस लिये सारी जाति का प्यारा है।

हम अभी प्रमाणित कर चुके हैं कि "वरुण" का अर्थ "वायु" है। "वायु" सब को जीवन देता है। इसी प्रकार से "वैश्य" जाति के लिये अन्न आदि उत्पन्न करके जाति को जीवन देता है। ब्राह्मण, धर्म का शिक्षक है। क्षत्रिय, रक्षक है। शूद्र सेवक है। जीवन सम्बंधी आवश्यक पदार्थों के पैदा करने का कार्य वैश्य के सुपुर्द है : मानो वैश्य जाति के जीवन का कारण है और इसी लिये वह 'वायु' के समान है। वैश्य का कार्य्य देश देशांतरों में फिर कर व्यापार करना है। वायु भी सारी पृथ्वी पर भ्रमण

करता है। (व्यापारिक पवनें प्रसिद्ध हैं।) इस लिये भी वैश्य वायु के समान है। और इसी लिये वरुण का अर्थ वैश्य भी है। वैदिक धर्म जुलाई सं० १९२१ के पृष्ट ३१५ पर लिखा है—

(१) 'अग्नि' देवता 'ब्राह्मणत्व' की सूचक है।

(२) 'इन्द्र' देवता 'क्षत्रियत्व' की सूचक है।

(३) 'मरुतः' देवता 'वैश्यत्व' की सूचक है।

और (४) 'विश्वे देवाः' देवता 'शूद्रत्व' की सूचक है।

इस सूचना में 'मरुतः' को वैश्यत्व की सूचक बतलाया है और 'मरुतः' वायु का ही दूसरा नाम है।

"पृदाकुः"— (१) बड़े २ अजगर सर्पादि विषधारी प्राणी। (पञ्चमहायज्ञ विधि, स्वामी दयानन्द)

(२) पृष्ट धारी प्राणी। (सन्ध्या रहस्य पं० चमूपति एम० ए०)

(३) विषैले प्राणी (सन्ध्या पं०तुलसीराम स्वामी)

[४] 'पृदाकु'- [पृत-आ-कुः] पृत् का अर्थ युद्ध, संग्राम, स्पर्धा [डाह, द्वेष, विरोध, ईर्षा]। स्पर्धा के समय उत्साह के शब्द बोलने वाला 'पृदाकु' होता है। [संध्योपासना सातवलेकर]

(५) 'पृ-पालन पूरणयोः' इस धातु से 'दाकु' प्रत्यय लगा कर 'पृदाकु' शब्द सिद्ध होता है। इस लिये पृदाकु का अर्थ है पूर्ण करने

---

* मरुत् वा मरुतः— Air, wind (Wolson's Sanskrit English Dictionary)

वाला (दिग् विज्ञान, मा० आत्माराम जी अमृतसरी)

अत: निश्चित हुआ कि पृदाकुः का अर्थ बड़े २ अजगर आदि पृष्ठधारी विषैले प्राणी, संग्राम के समय उत्साह पूर्वक बोलने वाला वीर योद्धा और पूर्ण करने वाला है।

पृदाकुः का आध्यात्मिक अर्थ हम क्रोध ले सकते हैं। क्रोध हमारे अन्दर एक बड़ा भारी अजगर सर्प है। पृष्ठ वंश की सहायता से ही सीधे खड़े होते हैं, जब मनुष्य को क्रोध आजाता है तो वह अपने से बलवान शत्रु के सामने भी सीधा बन कर खड़ा हो जाता है। मानो क्रोध पृष्ठ धारी जन्तु है उसका विष भी बड़ा तीक्ष्ण है। जिस प्रकार से विषैला सर्प अपने दंश द्वारा मनुष्य का जीवन नष्ट कर देता है, उसी प्रकार से जब मनुष्य का क्रोध प्रज्वलित हो उठता है, तो वह भी उस मनुष्य का जिस पर क्रोध आया है, जीवन तक नष्ट करने के लिये उद्यत हो जाता है। क्रोध के समय मनुष्य अजगर सर्प के समान फुस्कारने लगता है वा उत्साह के साथ शत्रु के सम्मुख ज़ोर २ से बोलने लगता है।

क्रोध हमारा मित्र भी है, और शत्रु भी। जब हम क्रोध के वश में होजाते हैं तो क्रोध हमारा शत्रु हो जाता है। उस समय वह हमें ही डसता है और इस प्रकार से हमारे ही नाश का कारण बनता है। किन्तु यदि क्रोध हमारे वश में हो तो हम उसके द्वारा बलवान शत्रु से अपनी रक्षा कर सकते हैं। इस लिये क्रोध, यदि वह मनुष्य के वश में हो तो एक आवश्यक गुण है, और उसके बिना वह मनुष्य अधूरा है। जो मनुष्य हर प्रकार के अत्याचारों को चुप चाप सहन कर लेता है, और किसी अवस्था में भी उसे क्रोध नहीं आता वह 'नामर्द' कहलाता है। वेद में प्रार्थना आई है--

मन्युरसि मन्युंमयि धेहि । सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥ यजु० १९ । ९ ॥

अर्थ— हे प्रभु ! आप [मन्युः] क्रोध हैं । मुझे भी क्रोध दीजिये । आप [सहः] सहनशील हैं, मुझे भी सहन शीलता प्रदान कीजिये ।

इससे सिद्ध है कि मनुष्य को क्रोध और सहनशीलता दोनों ही की आवश्यकता है । और यह दोनों ही गुण अपनी २ जगह लाभ कारी हैं । इनमें से एक के बिना भी मनुष्य 'अपूर्ण' है । "पृदाकू" का अर्थ पूर्ण करने वाला है, (मन्यु) अर्थात् क्रोध भी मनुष्य को पूर्ण करने वाला गुण है अतः 'पृदाकुः" का अर्थ क्रोध भी है ।

"अन्न"— "अद्--भक्षणे" धातु से अन्न शब्द सिद्ध होता है । इस लिये "अन्न" का अर्थ भक्षणीय पदार्थ है जिस में गेहूं, यव आदि सब प्रकार के अनाज और आम, अनार आदि सब तरह के फल सम्मलित हैं । "अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते" जो सब भूतों से ग्रहण किया जाता है वह अन्न है ।

"अन्न" शब्द का अर्थ "औषधी" भी है । जैसा कि निम्न लिखित प्रमाण से सिद्ध है----

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते । याः काश्च पृथिवीं श्रिताः । अथो अन्नेनैव जीवन्ति । अथैनदपियन्त्यन्ततः । अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात् सर्वौषधमुच्यते ॥

तैत्तरीय उप० ब्रह्म बल्ली अनु० २ ॥

अर्थ--- अन्न से सारी प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं, जो पृथ्वी पर रहती है। तब वह अन्न से ही जीती है और फिर अन्न में ही लीन हो जाती हैं। क्योंकि अन्न सब भूतों में बड़ा है इस लिये वह 'सर्वौषधी' कहलाता है

मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ [प्रतीची दिक्] अंतर्मुख दिशा का (वरुण) सर्वश्रेष्ठ परमात्मा राजा है [पृदाकुः] ईर्षा, क्रोध आदि नीच प्रवृत्तियों से [रक्षिता] रक्षा करता है (अन्नम् इषवः) अन्न उस के बाण हैं।

जब मनुष्य मन की वृत्तियों को बाहर से रोक कर अन्तर्मुख होता है तब (वरुण) अर्थात सर्वश्रेष्ठ परमात्मा को अपने आत्मा में प्राप्त करता है "अन्दर के पट जब खुलें जब बाहर के पट दें" वह परमात्मा जो अन्तर दिशा का स्वामी है, डाह क्रोध आदि नीच वृत्तियों से मनुष्यों की रक्षा करता है, किस प्रकार से अपने अन्न रूपी बाणों से, कारण कि जब मनुष्यों को पेट भरके अन्न नहीं मिलता और बहुत से लोग भूखे मरते हैं तो वह धनवानों को देख कर डाह करते हैं और चोरी आदि से उन्हें सताते हैं। किंतु जब सब को पेट भर अन्न मिल जाता है तो फिर कोई भी किसी से डाह नहीं करता। मानो डाह रूपी शत्रु अन्न रूपी बाण की मार से डर कर भाग जाता है।

आधिदैविक अर्थ (प्रतीची दिक्) पश्चिम दिशा का (वरुण) चन्द्र (अधिपतिः) स्वामी है। (पृदाकुः) बड़े २ अजगर आदि विषैले जन्तुओं से रक्षा करता है। (अन्न, इषवः) औषधियां उसके बाण हैं।

पश्चिम दिशा से चन्द्रमा का विशेष सम्बन्ध स्पष्ट है। नवीन चन्द्र सदा पश्चिम में ही दिखाई देता है। उसके पश्चात् भी कुछ दिन पश्चिम में ही दिखाई देता रहता है। और उसकी कला प्रति दिन बढ़ती जाती है। पूर्ण चन्द्र पूर्व में दिखाई देता है। पर उसी दिन से उसकी कला घटने लगती है। सूर्य्य का तेज पूर्व दिशा में बढ़ता और पश्चिम में घटता जाता है इसलिये सूर्य्य (वा अग्नि) को पूर्व दिशा का स्वामी कहा है। इसी प्रकार से चन्द्रमा का तेज पश्चिम दिशा में बढ़ता और पूर्व में घटता जाता है। इसलिये चन्द्रमा पश्चिम दिशा का स्वामी + है।

चन्द्रमा अधिक काल तक पश्चिम में ही दिखाई देता है। कारण यह है कि शुक्लपक्ष में, जब कि वह सूर्य्य के अस्त होते ही दिखाई देता है, तब तो वह पश्चिम में ही होता है। कृष्ण पक्ष में वह प्रति दिन पूर्व दिशा में उदय होता हुआ दिखाई देता है। पर इस अवस्था में वह दिन प्रति दिन देर से निकलता है। और बहुत से मनुष्य उसके निकलने से पहिले ही निद्रा देवी की गोद में चले जाते हैं। प्रातः काल जब उठते हैं तो उन्हें चन्द्रमा के दर्शन पश्चिम दिशा में ही होते हैं, क्योंकि चन्द्रमा उस समय तक पश्चिम दिशा में पहुंच जाता है। पूर्व में सूर्य्य दिखाई देता है। उसके सामने पश्चिम में चंद्रमा। इसी कारण चंद्रमा पश्चिम दिशाका स्वामी है।

मंत्र में कहा है, कि चंद्रमा विषैले सर्पों से औषधि द्वारा रक्षा करता है। इसका कारण यह है कि चंद्रमा औषधियों में अमृत डालता है जो विष नाशक है। अर्थात् औषधियों में विष के नाश करने का गुण चंद्रमा

+ राजा का तेज अपने देश में ही बढ़ता है। विदेश में उसका तेज क्षीण हो जाता है।

ही से आता है। औषधियां सब प्रकार के विषैले जन्तुओं के विष का नाश कर सकती हैं। परंतु विषैले जन्तुओं में सर्प मुख्य है। इसलिये मंत्र में केवल 'पृदाकु' सर्प का नाम लेदिया गया है किन्तु इससे सब प्रकार के विषैले जन्तुओं का ग्रहण करना उचित है।

आधि भौतिक अर्थ पश्चिम (वा अन्तर्मुख) दिशा का (वरुण) वैश्य स्वामी है। (पृदाकुः) भूख रूपी अजगर से रक्षा करता है अन्न उसके बाण हैं।

वैश्य की दिशा पश्चिम बताई गई है। वह सदा अन्तर्मुख होता है। जिस प्रकार से सूर्य्य और नक्षत्रादि सारे आकाश का भ्रमण करके अन्त में पश्चिम में आके अस्त होजाते हैं। मानों पश्चिम उनका घर है•जहां पहुंच कर वे शांत हो जाते हैं। उसी प्रकार से वैश्य सारे संसार में घूम फिर कर अन्त में अपने घर में आ घुसता है और जो द्रव्य चारों तरफ से कमा कर लाता है घर में इकट्ठा करता जाता है इसलिये वैश्य की दिशा (प्रतीचीदिक्) पश्चिम (वा अन्तर्मुख) है। इससे दूसरी सूचना यह मिलती है कि जिस प्रकार से नगर में ब्राह्मणों के घर पूर्व और क्षत्रियों के दक्षिण को होने उचित हैं उसी प्रकार से वैश्यों के घर पश्चिम को होने चाहिये।

वैश्य का धर्म जाति का पालन करना है। और वह जाति का पालन अन्न द्वारा करता है। अन्न उत्पन्न करना वैश्य का धर्म है। मनु जी महाराज कहते हैं—'वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषि मेव च' (मनु० १। ९०॥) इससे स्पष्ट है कि (कृषि) खेती करके अन्न उत्पन्न करना वैश्य का काम है। यदि वैश्य खेती करके अन्न उत्पन्न न करे तो भूख भयानक अजगर सारी जाति को भक्षण कर जाय। इसीलिये ३१

है कि वैश्य अन्न द्वारा भूख रूपी भयङ्कर सर्प से जाति की रक्षा करता है। मन्त्र के शेष भाग का अर्थ पूर्ववत् जानो ॥ ३ ॥

(४) ओ३म् उदीचीदिक् सोमोधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः। तेभ्योनमो...इत्यादि पूर्ववत् ॥

अथर्व० ३ । २७ । ४ ।

शाब्दिक अर्थ — (उदीचीदिक्) उत्तर दिशा का (सोमोधिपतिः) सोम अधिपति है । (स्वजो रक्षिता) श्वेत कोढ़ आदि से रक्षा करता है (अशनिः इषवः) विद्युत् उसके बाण हैं ।

व्याख्या ।

शब्दों की मीमांसा — (उदीचीदिक्) आप्टे कृत इङ्गलिश संस्कृत कोष में उदि का अर्थ तारा वा बादल आदि का ऊपर उठना लिखा + है । उत्तर दिशा में ध्रुव तारा दिखाई दिया करता है । जब हम उत्तर को जाते हैं तो यह तारा ऊपर को उठता हुआ दिखाई देता है। यहां तक कि जब हम उत्तरीय ध्रुव पर पहुंच जाते हैं तो ध्रुवतारा हमारे सिर के ऊपर दिखाई देने लगता है । जब हम दक्षिण दिशा को वापिस लौटते हैं तो हमें वह तारा उत्तर दिशा को लौटता हुआ वा यूं कहो

+ उदि To rise (as a star cloud etc) Sanskrit English Dictionary by Vaman Shivram Apte M. A.

कि नीचे उतरता हुआ दिखाई देता है। इस लिये "उदिची दिक्" का अर्थ ऊपर उठते हुए तारे की दिशा (अर्थात् वह दिशा जिसमें जाने से ध्रुव तारा उठता प्रतीत हो) या केवल ऊपर उठने की दिशा है। "उत्तर" दिशा का अर्थ भी (उत्-तर = उच्चतर) अधिक ऊंचा उठने की दिशा का मार्ग है।

[सोमः]—उत्तर दिशा का अधिपति वा स्वामी "सोम" है सोम शब्द [षु-प्रसव ऐश्वर्ययोः] "षु" धातु से बना है जिसका अर्थ उत्पादक, प्रेरक *और ऐश्वर्यवान् है। परमात्मा विश्व का उत्पादक और प्रेरक, और ऐश्वर्यवान् है, इस लिये परमात्मा का नाम सोम है। इसके अतिरिक्त "सोम" शब्द के निम्न लिखित अर्थ भी हैं—

सोमः—शान्ति का सूचक चन्द्र अथवा सोम। [सन्ध्योपासना सातवलेकर]

सोमः—शांत्यादि गुणों से आनन्द करने वाला जगदीश्वर। [स्वामी दयानन्द सरस्वती पंच महायज्ञ विधि

सोमः—शान्ति स्वरूप [सन्ध्या रहस्य-चमूपति]

इससे सिद्ध हुआ कि सोम का अर्थ शान्ति स्वरूप वा शान्ति दायक भी है। और चन्द्रमा और जल दोनों शान्ति देने वाले पदार्थ हैं इस लिये सोम इन दोनों अर्थों का वाचक भी है। आप्टेकृत कोष में "सोम" के अर्थ [Water] अर्थात् जल और [Moon] अर्थात् चन्द्रमा दोनों दिये हैं।

*प्रसव का अर्थ पैदा करना और प्रेरणा करना दोनों हैं आप्टेकृत कोष में generation, birth, आदि के अतिरिक्त इस शब्द के अर्थ Setting in motion और Excitement भी लिखे हैं।

सोम एक प्रकार की औषधि भी है, जिसका रस ऋषि लोग पिया करते थे। उसका एक गुण विष निवारण है। जैसा कि निम्नलिखित वेद मन्त्र से स्पष्ट है—

आरे अभूद्विषमरौद् विषे विषम भागपि।
अग्निर्विषमहेर्निरधात् सोमो निरणीयत् ॥
अथर्व० १०। ४। २६॥

अर्थ—विष दूर हो गया, विष रोने लगा, अग्नि से उस विष को निर्धारण किया, सोम ने उसको बाहर निकाला।

दक्षिण दिशा का स्वामी "इन्द्र" और उत्तर दिशा का स्वामी "सोम" बतलाया गया है। "सोम" "इन्द्र" से विपरीत गुण रखने वाले पदार्थों का वाचक है। हम पहिले वर्णन कर चुके हैं कि, "इन्द्र" का अर्थ राजा, सूर्य, विद्युत् और अग्नि आदि है अर्थात् "इन्द्र" तेजस्वी और उग्र गुण युक्त पदार्थों का वाचक है। उसके विपरीत "सोम" प्रजा, चन्द्र, और जल आदि तेजहीन और शान्त पदार्थों को प्रगट करता है। "इन्द्र" का अर्थ धन विद्युत् (Positive Electricity) है और सोम ऋण विद्युत् [Negative Electricity] को प्रकट करता है, जो उसके विपरीत गुणों को धारण करती है।

स्वजः—"स्वस्मात् जायतेभवति इति स्वजः" जो अपने आप पैदा हो वह स्वज है, स्वयंभू वा भूख, प्यास, थकान आदि दुःख जो (स्व) स्वयं ही वा (स्वः) अपने भीतर [जः] उत्पन्न हो जाते हैं। अर्थात् अध्यात्मिक दुःख। वा (स्व) अपने अन्तः करण में [जः] उत्पन्न होने वाले पाप भय नीच भाव

[स्वजः + ज] आत्मज, निज सन्तान + इत्यादि।
"स्वज" एक प्रकार का सर्प भी है जैसा कि नीचे के वेद मंत्र से विदित है—

आयमगन् युवाभिषक् पृश्निहाऽपराजितः।
स वै स्वजस्य जम्भन उभयोर्वृश्चिकस्य च ॥

॥ अथर्व० १० । ४ । १५ ॥

अर्थ—यह तरुण वैद्य आया है। जो विष दूर करने में कुशल है। स्वज नामक सर्प का तथा विच्छू का विष भी दूर करता है।

(अशनिः) "अशनि" शब्द "अश्" धातु से बना है जिस का अर्थ व्यापक होना है। इसलिये (अशनिः) का अर्थ व्यापक है। विद्युत प्रत्येक वस्तु के अंदर व्यापक है, इस लिये "अशनि" का अर्थ विद्युत हुआ। आप्टे कृत कोष में भी अशनि के अर्थ (Indras thunder bolt) और (Flash of lightning) लिखा है। स्वामी दयानंद सरस्वती जी ने भी इस शब्द के अर्थ विद्युत् किये हैं। (देखो पंच महायज्ञ विधि) ।

मंत्र का आध्यात्मिक अर्थ | [उदीचीदिक्] उत्तर [ऊपर उठने की] दिशा का (सोमः अधिपति) विश्व का प्रेरक (वा शांति दाता)

+ स्वजः—a son or child. स्वजा-a daughtrr. (Sanskrit English Dictionary by vaman Shiv-Ram Apte M. A.)

परमात्मा राजा है। (स्वजः रक्षिता) अपने अन्तःकरण में जो (नीचे को ले जाने वाले) नीच भाव उत्पन्न होते रहते हैं उन से रक्षा करता है। (अशनिः इषवः) उसका जो सर्व व्यापकता गुण है; वही मानो बाण रूप है। (वा उसके बाण सर्व व्यापक हैं।)

हमारे अन्तःकरण में नीच भाव हर समय उत्पन्न होते रहते हैं जो हमें नीचे को ले जाते हैं। "सोम" अर्थात् प्रेरक परमात्मा ही हमारे उन नीच भावों को शांत करके हमें ऊपर को उठने के लिये प्रेरित × करते रहते हैं। और वह प्रेरणा हमारे अंतःकरण में चुप चाप होती है। इसी प्रेरणा को अङ्गरेजी में कौंशंस (Conscience) के नाम से पुकारते हैं। जब मनुष्य किसी पाप कर्म में प्रवृत्त होने लगता है तो मन में प्रेरणा होती है। कि यह कर्म अच्छा नहीं है। इस प्रेरणा द्वारा परमात्मा*हमारी नीच भावों से रक्षा करते हैं।

× गायत्री मंत्र में प्रार्थना की गई है "धियो यो नः प्रचोदयात" हे प्रभु ! हमारी बुद्धियों को प्रेरित करो।

*सत्यार्थ प्रकाश सप्तम् समुल्लास में लिखा है "जब आत्मा मन और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता वा चोरी आदि बुरी, वा परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है, उस समय जीव की इच्छा, ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाती है। उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय, शङ्का और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय निःशङ्कता और आनंदोत्साह उठता है। वह जीवात्मा की ओर से नहीं, किंतु परमात्मा की ओर से है।

परमात्मा देव सर्व व्यापक होने से हमारे अंतःकरण में भी व्यापक हैं। इसी कारण वे हमारे मन को भीतर बैठे हुए चुपचाप प्रेरित कर सकते हैं। जो लोग परमात्मा की इस प्रेरणा से प्रेरित नहीं होते वे (उदीचीदिक्) ऊपर उठने की दिशा में न जा कर, उल्टे नीचे और नीचे को गिरते चले जाते हैं। ऊपर उठने का मार्ग तो यही है कि मनुष्य परमात्मा की प्रेरणा के अनुसार कार्य करे। वेद में लिखा है—

उत्क्रानातः पुरुष मावपत्था।

॥ अथर्व० ८। ॥

अर्थ—(पुरुष) हे पुरुष! (अतः उत्क्राम्) इस अवस्था से ऊपर उठो (मा अवपत्था) मत गिर जाओ।

आधि दैविक अर्थ	(उदीचीदिक्) उत्तर दिशा की (सोमः)

ऋण विद्युत (Nagative Electricity) स्वामी है (स्वजः रक्षिता) स्वज नामी सर्पों से रक्षा करती है (अशनिः इषवः) बिजली की चमक वा कड़क बाण है।

यह बात विज्ञान सिद्ध है कि उत्तर दिशा ऋण विद्युत प्रधान है। इस विद्युत का जल× के साथ विशेष सम्बंध है क्योंकि यह देखा गया है कि समुद्र के खारी जल से जो भाप उठती है उस भाप के कण ऋण विद्युत से पूर्ण होते हैं। बादलों में आरम्भ में यही विद्युत प्रगट रूप में होती है पर इस विद्युत् के आकर्षण से किसी २ बादल

×सम्भव है चन्द्र से भी इसका सम्बंध हो। सूर्य के प्रकाश से धन और चंद्र के प्रकाश से ऋण विद्युत् पैदा होती हो।

में धन (Positive) विद्युत् भी प्रगट हो जाती है । यह दोनों विद्युत् शक्तियां जब आपस में मिलती हैं, तो बड़ी चमक और कड़क उत्पन्न होती है । इसी को मंत्र में "अशनि" शब्द से प्रगट किया है । जब पृथ्वी की धन (Positive) विद्युत बादलों की ऋण (Nagative) विद्युत से मिलती है तब भी बादलों और पृथ्वी के बीच में बड़ी चमक होती है और जोर का धमाका भी होता है । इसे बिजली का गिरना वा वज्रपात कहते हैं । ऋण विद्युत् किस प्रकार से अपनी चमक और कड़क द्वारा स्वज नामी सर्पों से रक्षा करती है यह बात विचारणीय है । कहते हैं कि सर्पों पर विजली बहुत गिरती है । सम्भव है स्वज नाम के सर्पों पर विजली अधिक गिरती हो और इस प्रकार से उन को नष्ट करके जीवों की रक्षा करती हो । वा स्वज नामी सर्पों का विष ऋण विद्युत की चमक द्वारा नष्ट किया जा सकता हो ।

आधि भौतिक अर्थ

(उदीचीदिक्) उत्तर दिशा में (सोमः) शूद्र स्वामी है (स्वजो रक्षिता) अपने आप उत्पन्न होने वाले भूख, प्यास थकान आदि दुःखों से रक्षा करता है (अशनि) उसका सब जगह पहुंच जाने (वा सर्व व्यापकता) का गुण वा उसका व्यापक प्रेम ही बाण है ।

चतुर्वर्णों में शूद्र ही सब से अधिक शांत स्वभाव होते हैं इस लिये "सोम" का अर्थ शूद्र है । ब्राह्मण में ब्रह्म तेज होता है, क्षत्रिय में बल का तेज़ और वैश्य में धन का तेज़ होता है। अपने २ तेज़ के कारण प्रत्येक वर्ण के अन्दर कुछ २ उग्रता होती ही है । पर शूद्र का हृदय

उग्रता से शून्य होता है। इसी लिये वह सच्चा 'सोम' है। वह निन्दा ईर्षा, अभिमान आदि दोषों को छोड़ कर शांति के साथ अपने स्वामी की सेवा ही अपना कर्तव्य समझता है।

सोम का अर्थ हम जल बता चुके हैं शूद्र भी जल के समान सुखकारी है। और जिस प्रकार से जल सदा नीचे रहता है, ऊपर को कभी नहीं जाता उसी प्रकार से शूद्र भी वर्णों में सब से नीचे का वर्ण है। वह जाति का निचला भाग अर्थात् पाओं है।

जब स्वामी को भूख लगती है तो शूद्र भोजन करके खिलाता है। जब प्यास लगती है तो शीतल जल पिलाता है। स्वामी थका मांदा बाहर से काम करके आता है तो शूद्र उसके हाथ पांव दबा करके थकान को दूर कर देता है। इसी लिये मन्त्र में कहा है. कि शूद्र (स्वजः रक्षिता) अर्थात् आध्यात्मिक दु:खों से रक्षा करता है।

शूद्र [अशनि] अर्थात सर्व व्यापक है। इस का तात्पर्य यह है कि जाति का कोई भी घर शूद्रों से शून्य नहीं होता। ब्राह्मणों के घरों में सेवा टहल करने के लिये शूद्र उपस्थित है। क्षत्रियों के घरों में शूद्र मौजूद हैं। और वैश्यों के घर भी शूद्रों से खाली नहीं। फिर ऐसी कौनसी जगह, और कौनसा कार्य है जिस में शूद्र के बिना काम चल सके। हर जगह और हर कार्य में शूद्र अपने स्वामी की सहायता करने को उपस्थित रहता है। इसी लिये शूद्र को 'अशनि' अर्थात् व्यापक बतलाया है।

शूद्र प्रेम पूर्वक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, छोटे, बड़े, धनी, निर्धन सब की सेवा करता है। उसके हृदय में किसी विशेष व्यक्ति से

नहीं किन्तु जाति मात्र से प्रेम हैं। यह व्यापक प्रेम ही उसका बाण है।

शूद्र को पाओं से उपमा दी जाती है। इसका कारण यह है, कि जिस प्रकार से पाओं शरीर को ऊंचा उठाये रहते हैं, उसी प्रकार से शूद्र भी जाति को ऊपर उठाते हैं क्योंकि यदि शूद्र भोजन बनाना, जल पिलाना, कपड़े धोना आदि छोटे २ काम न करे तो ब्राह्मण आदि को ही यह काम स्वयं करने पड़ें। और इस लिये ब्राह्मणों को वेद के पढ़ने पढ़ाने, क्षत्रियों को जाति की रक्षा करने और वैश्य को द्रव्य उपार्जन करने अन्नादि उत्पन्न करने के लिये समय ही न मिले। नतीजा यह हो कि इन बातों के विना जाति की उच्चता नष्ट हो जाय। मानो शूद्र ही जाति को ऊंचा उठाते हैं। इसी लिये ऊंचे उठने की दिशा का स्वामी शूद्र बतलाया है। पीछे बतलाया गया है कि "विश्वे देवाः" शब्द शूद्र का सूचक है। इसका तात्पर्य यही है कि जाति सारे दिव्य गुण शूद्र की सहायता से ही प्राप्त कर सकती है। वा यूं कहो, कि सारे देवताओं का देवता पन शूद्र के कारण ही है।

दूसरा भाव यह भी है कि जिस प्रकार से ब्राह्मणों के घर पूर्व को, क्षत्रियों के दक्षिण को और वैश्यों के पश्चिम को हों उसी प्रकार शूद्रों के घर उत्तर दिशा को होने चाहियें।

[५] ओ३म् ध्रुवादिग्विष्णुरधिपतिः कल्माष-ग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः। तेभ्योनमो शेष पर्व के समान

अथर्व० ३। २७। ५

शाब्दिक अर्थ।	[ध्रुवादिक्] नीचे की दिशा का [विष्णुः अधिपतिः] विष्णु स्वामी है। [कल्माषग्रीवः रक्षिता]

काली गर्दन वाले सर्पादिकों से रक्षा करता है । [वीरुध इषवः] वनस्पतियां उस के बाण हैं । शेष पूर्व के समान ।

व्याख्या ।

शब्दों की मीमांसा। [ध्रुवादिग्]-ध्रुवा*" का अर्थ है, स्थिर, अचल, दृढ़ ,,ध्रुवादिग्" का अर्थ हुआ स्थिरता वा दृढ़ता की दिशा । हम अपने चारों ओर देखते हैं तो प्रत्येक वस्तु गतिमान प्रतीत होती है । आकाश पर भी सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र पूर्व से पश्चिम को घूमते प्रतीत होते हैं। इस गतिमान् संसार में यदि कोई वस्तु अचल प्रतीत होती है. तो वह हमारे पाओं के नीचे की पृथिवी ×. है । इस लिये " ध्रुवादिग्" का अर्थ नीचे की दिशा है । "येनद्यौ रुग्रा पृथिवी च दृढ़ा" [यजु० ३२ । ६] अर्थात् (येन) जिस परमात्मा ने [द्यौः] द्यौलोक [उग्रा] उग्र स्वभाव वाला [च.] और [पृथिवी] पृथिवी [दृढ़ा] दृढ़ , बनाई है । " इस वेद मन्त्र में भी पृथिवी को "दृढ़ा" कहा गया है ।

ध्रुवा का दूसरा अर्थ धारक है, पृथिवी प्रत्येक वस्तु को अपने ऊपर धारण करती है । इस लिये वह ध्रुवा है पृथिवी में यह गुण आकर्षण शक्ति के कारण है । पृथिवी अपनी धुरी के गिर्द १००० मील

* ध्रुवा-Fixed stable, firm (Wilson's Sanskrit English Dictionary.)

× याद रक्खो कि पृथिवी स्थिर नहीं है पर हमारी आंखों को ऐसी ही प्रतीत होती है । इसी कारण वह अचला कहलाती है ।

प्रति घन्टे की गति से रथ चक्र के समान घूमती है। यदि पृथिवी के अन्दर आकर्षणशक्ति न हो तो भू पृष्ठ पर की प्रत्येक वस्तु पृथिवी की इस दैनिक गति के कारण आकाश में फेंकी जाती और पृथिवी किसी वस्तु को भी अपने ऊपर धारण न कर सकती। पृथिवी की यह आकर्षण शक्ति प्रत्येक वस्तु को सीधी नीचे की दिशा में या यूं कहो कि पृथ्वी के केन्द्र की ओर खेंचती है। इसी नीचे की ओर, वा पृथ्वी के केन्द्र की ओर वाली दिशा का नाम "ध्रुवादिक्" अर्थात् धारण करने की दिशा है।
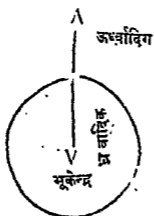
(विष्णु)—"विष्लृ व्याप्तौ" वा "विश- प्रवेशने" धातु से "नु" प्रत्यय होकर "विष्णु" शब्द सिद्ध होता है। अर्थात् जो व्यापक है, वा सब वस्तुओं में प्रवेश किये हुये हैं वह विष्णु है। सर्व व्यापक होने से परमात्मा का नाम विष्णु है। अग्नि भी प्रत्येक वस्तु में प्रवेश किये हुये है। इसलिये वह भी विष्णु है और इसी प्रकार से आकर्षण शक्ति भी प्रत्येक परमाणु में व्यापक होने से विष्णु, कहला सकती है। वेद कहता है—

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुः....अतो धर्माणि धारयन्।

॥ ऋ० १।२२ ॥

अर्थात् विष्णु तीनों लोकों [द्यौ, अंतरिक्ष और पृथ्वी] में व्यापक है [धर्माणि] सब धर्मों वा समस्त पदार्थों को [धारयन्] धारण करता है। इस मंत्र में विष्णु को व्यापक और धारण करने वाला बतलाया है।

श्री सात्वलेकर जी संध्योपासना में विष्णु का अर्थ सर्व व्यापक के अतिरिक्त (Worker) कर्ता और उद्यमी भी करते हैं। ऋग्वेद में भी विष्णु को कर्त्ता कहा गया है। "विष्णोः कर्माणि पश्यत" अर्थात् विष्णु के कर्मों को देखो। आकर्षण शक्ति भी भूगोल आदि को भ्रमण कराती है।

ध्रुवादिग् अर्थात् स्थिर दिशा से विष्णु का सम्बन्ध स्पष्ट ही है। प्रथम तो सर्व व्यापक वस्तु ही पूर्ण रूप से ध्रुव अर्थात् स्थिर होती है। दूसरे सर्व व्यापक परमात्मा ही विश्व को धारण किये हुये हैं। इसलिये वह ध्रुवादिक् अर्थात् स्थिरता या धारक दिशा का स्वामी है। तीसरे आकर्षण शक्ति भी न केवल पृथिवी के अंदर व्यापक होती हुई पृथिवी पर के प्रत्येक पदार्थ को स्थिर रखती है किंतु विश्व व्यापनी होकर ग्रह, उपग्रह और नक्षत्रादि को भी वही अपनी २ कक्षा पर स्थिर रखती है और नियम पूर्वक उन्हें भ्रमण भी कराती हैं।

(कल्माष ग्रीवः)—कल्माषः=काली ×, ग्रीवः=गर्दन। अर्थात् काली गर्दन वाला "कल्माष ग्रीवः" का अर्थ हुआ। काले नागों की गर्दन काली होती है, इसलिये "कल्माष ग्रीवः" का अर्थ काले नाग हुआ। अथर्व वेद में सर्पों के असित आदि अनेक नाम बतलाये गये हैं उनमें "कल्माष ग्रीवः" भी सर्प का नाम आया है। काले सर्प के समान

× कल्माष= Black, Amixture of black and white (Wilson's Sanskrit English Dictionary.)

दूसरों का घात करने वाले दुष्ट पुरुष भी "कल्माष ग्रीवः" कहला सकते हैं। अथवा हमारे मनमें जो पापमय * घातक वृत्तियां हैं इन्हें भी हम "कल्माष ग्रीव." नाम दे सकते हैं।

(वीरुध:)—"वीरुध ओषधियो भवन्ति विरोहणात्" (निरुक्त अ०६ पा०१ सं०४) विशेष रूप से ऊपर उठने के कारण वीरुध का अर्थ औषधी वा वनस्पति + है। यह अर्थ तो प्रसिद्ध ही है इसके अतिरिक्त इस शब्द का अर्थ है-(वि + रुधः) "वि-विशेष रूपेण वेगेन वा रुणद्धि, जयति, स्तम्भयति वा इति। विशेषेणजयति स्तम्भयति अरिम् येन सा वीरुधः वीरता वा"। विशेष रूप से जिसके द्वारा शत्रु को रोका वा जीता जाता है वह वीरुध है अथवा वीरता, स्थिरता, दृढ़ता आदि गुण। श्री सत्यव्रतसामश्रमी भट्टाचार्य निरुक्त भाष्य में लिखते हैं "वीरुधः' सर्वं रोगान् जित्वा अस्माकमायुषः "पारयिष्णवः" पारयिष्ण्वः सन्तु:" अर्थात सर्व रोगों को जीत कर हमारी आयु को वढाने के कारण औषधी को वीरुध् कहते हैं अतः सिद्ध है कि वीरता, धीरता दृढ़ता स्थिरता आदि गुण जो शत्रु पर विजय पाने के लिये आवश्यक हैं वे सब ही वीरुध शब्द से प्रकट होते हैं 'रुध्' का अर्थ शत्रु को रोकना वा शत्रु

*कल्मष=Sinful,wicked. कल्मषः वा कल्मषं=Sin(Sanskrit English Dictionary by Vaman Shivram Apte M.A.) +वीरुध=A Shrub in general (Sanskrit English Ditc. Apte M.A.)

का सामना करना है वीरुधका* अर्थ शत्रु को विशेष प्रकार से रोकना हुआ। शत्रु का सामना करने के लिये स्थिरता या अचल रहने का गुण आवश्यक है। युद्ध में जब शत्रु के बाण आकर शरीर को छेदन करने लगते हैं तो भीरू तो भाग निकलते हैं पर वीर पुरुष तनिक भी चलायमान नहीं होते, पर्वत के समान स्थिर रह कर ही शत्रुओं का सामना करते हैं। इसी गुण को यहां 'वीरुध:' शब्द प्रकट कर रहा है।

मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ | (ध्रुवादिक) स्थिरता की दिशा का (विष्णुः अधिपतिः) सर्व व्यापक या सर्व को धारण करने वाला परमात्मा स्वामी है (कल्माषग्रीवः) मन को पाप वृत्तियों से रक्षा करता है (वीरुध-इषवः) स्थिरता, दृढ़ता और वीरता के गुण वाणों के समान हैं।

यदि हम स्थिरता प्राप्त करना चाहते हैं तो ये गुण हमें परमात्मा को विष्णु अर्थात् सर्व व्यापक समझने से ही प्राप्त हो सकता है। यजुर्वेद में कहा है—

ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात

यजु० १।१

(अस्मिन्) इस (गो-पतौ) गौ नाम इन्द्रियों के स्वामी में इन्द्रियां आदि (ध्रुवा स्यात) ध्रुव-स्थिर रहे। अर्थात् मनुष्य की इन्द्रियां

*वीरुध=वि before रुध to impede, aff क्विप् and the vowal of the prefix made long. (Wilson's Sanskrit English Dictionary.)

चलायमान न हों। इसी प्रकार से मन भी चलायमान न हो। यही स्थिरता है जिसे हमें प्राप्त करना चाहिए। आंखे रूप पर चलायमान हो जाती हैं और मन को भी चलायमान कर देती हैं। और हम उसी समय मनसा पाप कर बैठते हैं और समझते हैं हमारे इस पाप को किसी ने नहीं देखा है। मन की यह छुपी हुई पाप वृत्तियां ही (कल्माष + ग्रीवः) काले सर्प के समान हैं जिसका विष आहिस्ते २ हमारे धार्मिक जीवन को नष्ट कर देता है। इस सर्प से अपनी रक्षा चाहते हो तो परमात्मा के विष्णु अर्थात् सर्व व्यापक रूप की उपासना करो जब तुम्हें निश्चय हो जायगा कि विष्णु देव हमारे मन और इन्द्रियों में बैठे हुए हमारे पाप कर्मों को देख रहे हैं तब तुम अपने मन आदि को दृढ़ता से (ध्रुव) स्थिर रक्खोगे और चलायमान न होने दोगे। यही (वी + रुध) वीरों के धारण करने योग्य वीरता का गुण वा मनुष्य को (वीः + उद्ध) विशेष प्रकार से ऊपर उठाने वाला गुण है।

जो मनुष्य शीघ्र ही मन से हार मान कर भाग निकलते हैं वे भीरु हैं, किन्तु वीर पुरुष मन पर विजय प्राप्त करके ही आराम लेते हैं। किसी उर्दू के कवि का कथन है—

> बड़े मूज़ी को मारा नफ्से अम्मारा को गर मारा।
> नहंग ओ अज़दहा ओ शेर नर मारा तो क्या मारा॥

इसका भाव यह है कि यदि तूने अपने पापी मन को मार लिया है (वश में कर लिया है) तो तूने बड़ी वीरता का काम किया है क्यों

+मन की पाप वृत्तियों को ही शैतान का नाम दिया गया है और शैतान की सर्प से उपमा दी जाती है।

कि यह बड़ा (मूज़ी) घातक है। मगरमच्छ, अज़दहा और शेर नर का मारना क्या कठिन है।

आधि दैविक अर्थ (ध्रुवादिग्) नीचे की दिशा का (विष्णुः अधिपतिः) सर्व व्यापक परमात्मा वा उष्णता वा आकर्षण शक्ति स्वामी है। (कल्माष ग्रीवः) काले सर्पों से. (रक्षिता) रक्षा करता है। [वीरुध इषवः] वनस्पतियां वा औषधियां बाण हैं।

काले सर्प पृथिवी के भीतर रहते हैं। सर्व व्यापक परमात्मा ने उन के विष से बचने के लिये इसी पृथिवी से अनेक प्रकार की औषधियां उत्पन्न की हैं जिन के सेवन से विष का नाश होता है यही विष्णु के बाण हैं। वेद में लिखा है–

तिरश्चिराजेरसितात् पृदाकोः परिसंभृतम ।
तत्कंकपर्वणो विषमियं वीरुदनीनशत् ॥

अथर्व ७।५६।१

अर्थ— यह [वीरुत्*] वनस्पति तिरश्चिराजी, असित, पृदाकु, कंकपर्वा आदि सर्पों के विष का नाश करती है।

---

* वीरुध, वीरुद वा वीरुत तीनों एक ही शब्द के रूप हैं। उध. उद वा उत का अर्थ ऊपर उठना है। वनस्पतियां विशेष प्रयत्न से पृथिवी को फोड कर ऊपर उठती हैं इसीलिए वनस्पतियां इन नामों से पुकारी जाती हैं। निरुक्त ने कहा है "वीरुध औषधयो भवन्ति विरोहणात्" यही वीरों की वीरता है अर्थात् सर्व प्रकार के विघ्नों को दूर करके ऊपर उठना, उन्नति करना और विजय प्राप्त करना। यही "ध्रुवता" गुण है।

सब प्रकार की औषधियां उष्णता से उत्पन्न होती हैं। पृथिवी के भीतर भी बड़ी उष्णता है। सूर्य का नाम भी विष्णु है कारण कि वह अपनी किरणों द्वारा द्यौ और अन्तरिक्ष में और उष्णता के रूप से पृथिवी में व्यापक है। जहां उष्णता अधिक होती है वहां बनस्पति भी अधिक उत्पन्न होती है। पृथिवी की आकर्षण शक्ति भी सब प्रकार के वृक्षों को भूपृष्ठ पर स्थिर रखती है। सम्भव है आकर्षण शक्ति से वनस्पति की उत्पत्ति में कोई और भी सहायता मिलती हो।

आधि भौतिक अर्थ इस मन्त्र का सम्बन्ध किसी विशेष वर्ण से प्रतीत नहीं होता इससे मनुष्य मात्र के लिए जो पृथिवी पर रहते हैं, धीरता, वीरता और स्थिरता की शिक्षा दी गई है। अर्थात् बतलाया गया है कि सब मनुष्यों को सर्प के समान घातक और दुष्ट स्वभाव वाले शत्रुओं से अपनी रक्षा करने के लिए अपने अन्दर स्थिरता वा दृढ़ता का गुण उत्पन्न करना चाहिए। जिन मनुष्यों के अन्दर यह स्थिरता का गुण नहीं होता वे शारीरिक बल रखते हुए भी भीरुता दिखलाते हैं। कारण यह है कि उनके अन्दर सहन शक्ति की कमी होती है। इसीलिए वेद में लिखा है– "सहो असि सहो मयि धेहि" परमात्मन! आप सहन शक्ति से युक्त हैं हमें भी सहन शक्ति दो ताकि आपत्ति पड़ने पर हम घबड़ा न जावें कि तु उसे सहन करते हुए ध्रुव रहें और सब प्रकार के विघ्नों को दूर करके ऊपर उठें अर्थात् उन्नति को प्राप्त हों।

मन्त्र से यह भी भाव निकलता है कि स्थिरता वा सहन शीलता का गुण (वीरुध) बनस्पतियों के सेवन से प्राप्त हो सकता है माँसादि*

* फुट नोट पृष्ठ १५२ पर देखो

के सेवन से नहीं। जितने मांसाहारी पशु हैं उनमें प्रचंडता तो अधिक होती है पर ध्रुवता नाम को भी नहीं होती। सिंह जैसा पशु भी यदि उसका सामना किया जाय तो उसी दम भाग निकलता है। मांसाहारी पशु अपने शिकार को एकदम झपट कर पकड़ लेते हैं पर आवश्यकता पड़ने पर वह स्थिरता से शिकार का पीछा नहीं कर सकते।

जो लोग कहा करते हैं कि क्षत्रियों को अवश्य मांस खाना चाहिये उनको इस मन्त्र के "वीरुध इषवः" शब्दों पर विचार करना चाहिए।

(६) ओ३म् ऊर्ध्वादिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्यो नमो.... पूर्ववत्। अथ० ३। २७। ६

शाब्दिक अर्थ—(ऊर्ध्वादिग्) ऊपर की दिशा का (बृहस्पतिः अधिपतिः) बृहस्पति स्वामी है (श्वित्रो रक्षिता) श्वेत कोढ़ से रक्षा करता है (वर्षम् इषवः) वर्षा उसके बाण हैं। शेष पूर्ववत।

प्रो० लारेंस का मत है कि "मांसाहार जैसे शरीर की शक्ति और हिम्मत को कम करता है। वैसे ही वनस्पत्याहार के साथ कम ताकती और डरपोक पन का जरा भी सम्बन्ध नहीं" (वनस्पत्याहार का महत्व पृ० १५)

† मांस खाने वाले पशुओं में सिंह ही सब से बलवान और प्रचंड पशु है किन्तु वनस्पति खाने वाले ऐसे अनेक पशु हैं जो सिंह से अधिक बलवान हैं। जैसा कि नीचे के प्रमाणों से सिद्ध है।

(शेष फुट नोट पृष्ठ १५३ पर देखो)

व्याख्या ।

शब्दों की मीमांसा ऊर्ध्वादिग्—उत्, उद् वा ऊर्द्ध का अर्थ ऊपर है, "ऊर्ध्वादिग्" का अर्थ हुआ ऊपरकी दिशा। "ध्रुवा दिग्" पाओं के नीचे की दिशा का नाम है। और (ऊर्ध्वादिग्) उसके विरुद्ध (Opposite) शिर के ऊपर की दिशा (सम्त उर्रास) है। इसके अर्थों में भी उच्चता का भाव पाया जाता है।

---

1. The South African buffalo with his sharp & hooked horns is one of the most terrible animals that man can meet. He is so fierce that he will charge a lion and has even been known to conquer the king of beasts.

(The Book of Knowledge Vol 22)

अर्थात् दक्षिणी अफ्रीका का भैंसा जिसके सींग मुडे हुए तीक्ष्ण होते हैं उन सब पशुओं में से जो मनुष्य को मालूम हुए हैं परम भयंकर है। वह इतना प्रचंड है कि वह सिंह पर आक्रमण करता है और पशुओं के राजा पर विजय प्राप्त करता हुआ भी जाना गया है।

2. Bison (भीषण बैल) जो भारत के पश्चिमी घाट के घने जंगलों में मिलता है। उसके सम्बन्ध में लिखा है—

Bison is very strong and is not afraid even of the tiger.

अर्थात् भीषण बैल बहुत बलवान होता है। और बाघ तक से भी नहीं डरता।

बृहस्पतिः—ऊपरकी दिशा का स्वामी बृहस्पति है। "बृहतानाम् पतिः स बृहस्पति" जो बड़ों २ का स्वामी है वह बृहस्पति है। हमारी पृथिवी बहुत बड़ी चीज है पर आकाश में इससे भी बड़े २ लोक उपस्थित हैं। बृहस्पति नाम का गृह हमारी पृथिवी से १२०० गुणा बड़ा है। सूर्य १३ लाख पृथिवियों के बराबर है, और अनेक नक्षत्र सूर्य से भी बड़े हैं। इन इतने बृहत् पदार्थों का स्वामी होने से परमात्मा का नाम बृहस्पति" है। अथवा "यो बृहतामाकाशादीनां पतिः स्वामी, पालयिता वा स बृहस्पति"※ जो बड़ों से भी बड़ा और बड़े आकाशादि ब्रह्मांडों का स्वामी है इससे उस परमात्मा का नाम बृहस्हपति है।

"बृहस्पति" शब्द का दूसरा अर्थ "बृहतः वाचः पतिः" अर्थात् "वाणी का पति" है। वेद वाणी का स्वामी होने से परमात्मा का नाम बृहस्पति है।

श्री० पं० गुरुदत्त जी ऐम० ए० ने ऋग्वेद मं० १ सू० २ मं० १ की व्याख्या करते हुये सिद्ध किया है कि वाणी का रक्षक वायु है। अतः बृहस्पति शब्द का अधिदैविक अर्थ वायु + भी हो सकता है। यजुर्वेद में लिखा है—

श्रोत्राद्वायुश्चप्राणश्चमुखादग्निरजायत।

यजु० अ० ३१। मं० १२॥

※ सत्यार्थ प्रकाश + वेदार्थ दीपक निरुक्त भाष्य उत्तरार्ध पृष्ठ ६१८ पर प्रो० चन्द्रमणि विद्यालंकार ने भी बृहस्पति का अर्थ "बड़े मेघ का रक्षक या पालक वायु" किया है।

अर्थात् (श्रोत्रात्) ब्रह्म के श्रोत नाम अवकाश रूप सामर्थ्य से (वायुः) वायु उत्पन्न हुवा। यहां वायु का श्रोत से स्पष्ट सम्बन्ध जताया गया है। विज्ञान द्वारा भी सिद्ध है कि वायु ही शब्द को स्थूल बना कर श्रोत्र तक पहुंचाने का एक मात्र साधन है। अतः (बृहस्पतिः= वाचः पति) का अर्थ वायु करना युक्त ही है।

बृहस्पति शब्द का अर्थ गुरु भी होसकता है। क्योंकि गुरु भी वाणी का स्वामी (Master of language.) होता है। और उसका आसन भी शिष्य से ऊंचा रहता है। सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने ही ऋषियों को वैदिक भाषा और वेद ज्ञान की शिक्षा दी थी। इसलिये वह सब का आदि गुरु है।

श्वित्रः— श्वित्र का अर्थ श्वेत है। श्वेत रङ्ग शुद्धता और पवित्रता का सूचक है (सात्वलेकर)

"श्विविदागात्रप्रस्रवणे" इस धातु से श्वितो-श्वित्र शब्द बनता है। और 'प्रस्रवण' का अर्थभाषा में झरना होता है। इसलिये श्वित्रः का अर्थ मेघ भी यथार्थ है। (दिग् विज्ञान) मेघों का रङ्ग श्वेत भी होता ही है।

श्री० पं० तुलसीराम स्वामी ने इसका अर्थ "श्वेत कुष्टादि" किया है। और यह भी यथार्थ प्रतीत होता है क्योंकि वह श्वेत होता है और वह झरने भी लगता है।

वेद में "श्वित्र" सर्प का नाम भी आया है। सम्भवतः श्वेत रङ्ग के सर्प को "श्वित्र" कहते हैं। (देखो वैदिक सर्प विद्या सात्वलेकर जी लिखित)

सर्प का कुटिल और घातक होना पहिले कई बार वर्णन कर चुके हैं। अनेक मनुष्य ऐसे होते हैं कि प्रत्यक्ष में तो शुद्ध पवित्र और धर्मात्मा बने रहते हैं, पर समय पड़ने पर वह घातक सिद्ध होते हैं। ऐसे पुरुषों को वा ऐसे भावों को श्वित्र कह सकते हैं। ऐसे पुरुष दूसरों को, वा ऐसे भाव अपने आपको ऊपर उठने (उन्नति करने) में सदा बाधक हुवा करते हैं। परमात्मा ऐसे मित्र रूप शत्रुओं से रक्षा करते हैं।

वर्षः—का अर्थ वर्षा स्पष्ट ही है।

मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ (ऊर्ध्वादिग्) ऊपर की दिशा का (बृहस्पति: अधिपति) वेद वाणी का स्वामी परमात्मा राजा है। (श्वित्रः रक्षिता) वह मित्र रूप शत्रुओं से वा प्रत्यक्ष में शुद्ध पवित्र और वास्तव में घातक भावों से वा श्वेत कुष्टादि घातक रोगों से रक्षा करता है। (वर्षम् इषव:) ज्ञान की वर्षा उसके बाण हैं।

परमात्मा ने वेद क्या दिये हैं मानो ज्ञान की वर्षा करदी है। जब वर्षा जोर की होती है तो गली कूचों की मोरियों तक का सड़ा और बदबूदार कीचड़ तक बह जाता है और तमाम नालियां और सड़कें शुद्ध पवित्र होजाती हैं। इसी प्रकार से वेद रूपी ज्ञान की वर्षा जब मनुष्य के हृदय में होती है तो हृदय के वे भाव जिन्हें वह पहिले हानिकारक नहीं समझता था अब घातक प्रतीत होने लगते हैं ऐसे सब भाव ज्ञान के जल से बह जाते हैं। और मनुष्य का हृदय शुद्ध पवित्र हो जाता है। ये बुरे भाव मानों श्वेत सर्प हैं, जिन से मनुष्य को रक्षा हो जाती है। वेद में कहा है कि—

बृहस्पतिर्नः परिपातुपश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः ।

ऋ० १० । ४२ । ११

अर्थ– (बृहस्पतिः) ज्ञान का स्वामी ईश्वर हमें पीछे से, आगे से और नीचे से (अघायोः) पापों से (पातु) बचावे ।

यही उन्नति का रास्ता है ।

वेद में क्षय, कुष्ट आदि अनेक घातक रोगों काभी वर्णन है । वैद्यक शास्त्र का ज्ञान मनुष्यों ने वेदों से ही प्राप्त किया है (देखो वेद में वैद्य शास्त्र नामी पुस्तक श्री सात्वलेकर जी लिखित) मानों वेद वाणी के स्वामी परमात्मा ने वेद रूपी ज्ञान की वर्षा ऋषियों के हृदय में क्षय कुष्ट आदि रोगों से मनुष्यों की रक्षा के निमित्त ही की है ।

आधि दैविक अर्थ । (ऊर्ध्वादिक्) ऊपर की दिशा का (बृहस्पति रधिपति) वायु स्वामी है । वह (श्वित्रः रक्षिता) मेघों द्वारा रक्षा करता है (वर्षःइषवः)वर्षा + उसके बाण हैं ।

+ ऋग्वेद ७ । ४६ । १ वाले मन्त्र में भी वायु का इसी प्रकार का वर्णनहै वहां वायु को वरुण शब्द से कहा गया है । वह मन्त्र निम्न लिखित है " इमा रूद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने । अषाल्हाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः" । अर्थ (स्थिर धन्वने) हे मनुष्यो ! जिसका दृढ़ धनुष परिपंक मेघ है । (क्षिप्रेषवे) और वृष्टिधारा जिस के शीघ्रगामी बाण हैं, (देवाय, स्वधाव्ने) जो जल को देने वाला है. और जलसे संयुक्त है अर्थात् तर हवा के रूप में विद्यमान है, (आषाढ़ाय, सहमानाय) जो अन्यों से अजेय है परन्तु दूसरों को

वायु अन्तरिक्ष में भरा हुआ है। यही हमारे ऊपर की दिशा है। मानो वायु इस दिशा का स्वामी वा राजा है। उस वायु में जो बादल तैरते फिरते हैं उन के द्वारा वायु वर्षा रूपी बाण चला कर (अनावृष्टि आदि से) हमारी रक्षा करता है। और सम्भव है कि वर्षा का जल श्वेत कुष्ट के लिये भी लाभ कारी हो तो उस अवस्था में ये अर्थ भी हो सकता है कि वायु वर्षा के द्वारा श्वेत कुष्ट से हमारी रक्षा करता है।

आधि भौतिक अर्थ (ऊर्ध्वादिग्) ऊपर की दिशा का बृहस्पतिः अधिपतिः) ज्ञानी वैद्य स्वामी है (श्वित्रः रक्षिता) श्वेत कुष्ठादि रोगों से रक्षा करता है (वर्षः इषवः) औषधियों की वर्षा उसके बाण हैं।

स्वास्थ्य के बिना उन्नति असंभव है। राष्ट्र को स्वस्थ रखना (बृहस्पति) ज्ञानी वैद्यों * का कर्तव्य है। इस लिए वैद्य मानो उन्नति की दिशा का स्वामी है। वही भयानक रोगों से जाति की रक्षा करते हैं। रोग रूपी शत्रु को देश से भगाने के लिए ज्ञानी वैद्य अनेक औषधियों का प्रयोग करते हैं यही मानो रोग शत्रु पर बाणों की वर्षा है। औषधि शब्द

जीतने वाला है. (वेधसे तिग्मायुधाय) जो, सृष्टि का कर्ता है और विद्युत रूपी तीक्ष्ण आयुध से युक्त है, (रुद्राय) उस रुद्र की (गिर भरत) विद्या को तुम लोग धारण करो (नः शृणोतु) एवं तुम्हारे में से प्रत्येक मनुष्य हमारे (विद्वानों के) आदेशों को सुने। इस मन्त्र से भी वर्षा को बाण वत बतलाया गया है।

* ऋग्वेद १।९७ में वैद्य के लिए, "विप्र" शब्द आया है जिसका अर्थ ज्ञान सम्पन्न है। (देखो वेद में वैद्य शास्त्र)

का अर्थ भी विचारणीय है। यह "औष" और "धी" दो शब्दों से मिल कर बना है। "औष" का अर्थ दोष, मल, रोगबीजादि है। हमारे शरीर के अन्दर जो मल (foreign matter) जहां तहां इकट्ठा हो जाता है। उसी से रोग उत्पन्न होता है। "धी" शब्द का अर्थ धोने वाली है। ⊛ जिस प्रकार वर्षा का पानी गली कूचों के मल को बहा ले जाता है उसी प्रकार से औषधियां शरीर के मलों को बहा ले जातीं हैं। यही औषधियों की वर्षा है जो रोगों को दूर करने के लिए मानो बाण हैं "रामबाण-चूर्ण" आदि औषधियों के नाम प्रसिद्ध ही हैं जो इसी भाव को प्रगट करते हैं।

मनसा परिक्रमा मन्त्रों पर एक दृष्टि और भी

मनसा परिक्रमा के ये ६ मंत्र इतने गूढ़ और भाव पूर्ण हैं, कि उन पर जितना विचार किया जाय उतना ही थोड़ा है। अभी हम प्रत्येक मंत्र पर अलग २ विचार कर चुके हैं और पाठकों को दिखला चुके हैं कि प्रत्येक मंत्र में कितने भाव भरे हैं। यहां हम इन मंत्रों पर एक बार फिर विचार की दृष्टि डालना चाहते हैं।

इन मंत्रों के दो भाग हैं पहिला भाग अलग २ है और दूसरा भाग सब का साझा है। पहिले भाग के सम्बन्ध में निम्न लिखित कोष्टक पर दृष्टि डालिये—

⊛ दोषं धयन्तीति वा—निरुक्त

दिशा	अधिपति	रक्षिता	इषुः
१ प्राची	अग्नि	असित	आदित्य
२ दक्षिण	इन्द्र	तिरश्चिराजी	पितर
३ प्रतीची	वरुण	पृदाकुः	अन्न
४ उदीची	सोम	स्वजः	अशनि
५ ध्रुवा	विष्णु	कल्माषग्रीवः	वीरुध
६ ऊर्ध्वा	बृहस्पति	श्वित्रः	वर्षा

सब से पहिले दिशाओं के नामों पर विचार करो कितने भाव पूर्ण नाम हैं। सारी ही दिशाएं अपने नाम से उन्नति का मार्ग दिखाती हैं "प्राची" नाम हमें बताता है कि सदा आगे बढ़ो। "दक्षिण" शब्द हमें सूचित करता है कि सदा योग्य कर्म करते हुए और धर्म के सीधे और सच्चे मार्ग पर चलते हुए ही तुम वृद्धि को प्राप्त कर सकते तथा सत्कार के भागी बन सकते हो। "प्रतीची" शब्द हमें उपदेश करता है कि धर्म के मार्ग पर चलने के लिये मनुष्य को अन्तर्मुख होना चाहिए अर्थात् उसे प्रति दिन अपने अन्तःकरण को देखना आवश्यक है। ताकि उसे मालूम हो जावे कि पाप का घातक सर्प उसके अन्तःकरण के किस अन्धेरे कोने में छिपा बैठा है। "उदीची" शब्द हमें पुकार २ कर कह रहा है कि जब

तुम अपने अन्तःकरण को पवित्र बना लोगे तो अवश्य तुम ऊंचे उठोगे अर्थात् उन्नति करोगे। "ध्रुवा" शब्द का यह उपदेश है। कि जब तुम एक बार उन्नति के मार्ग पर पड़ जाओ तो फिर उसी मार्ग पर (ध्रुव) स्थिर रहो। हजार आपत्तियां आने पर भी उस मार्ग का त्याग मत करो और सारी विघ्न - बाधाओं को दृढ़ता वा वीरता पूर्वक दूर हटा दो। अन्त में "ऊर्ध्वा" शब्द हमें निश्चय दिलाता है कि जब यह सारे गुण तुम प्राप्त कर लोगे तो तुम्हारे ऊपर उठने में कोई सन्देह नहीं है। अर्थात् सँसार में ऐसी कौन सी शक्ति है। जो फिर तुम्हारी उन्नति में बाधा डाल सके पाठक! देखा वैदिक शब्दों का महत्व? केवल दिशाओं के नाम ही हमें ऐसी उत्तम शिक्षा दे रहे हैं कि यदि हम उस शिक्षा के अनुसार अपना जीवन बना लें तो वेद के केवल इन ६ शब्दों से ही हमारा उद्धार हो सकता है।

अब दूसरे ६ शब्दों—दिशाओं के अधिपतियों के नामों पर विचार करो। इन में यह बताया गया है कि मनुष्य कौन २ से गुण प्राप्त करके दिशाओं का स्वामी बन सकता है। "प्राची" अर्थात् आगे बढ़ने की दिशा का स्वामी "अग्नि" है। इससे यह विदित हो गया कि तुम अग्नि के गुण अपने अन्दर धारण करके संसार में आगे बढ़ सकते हो। अग्नि के अन्दर प्रकाश और ताप दो गुण हैं। प्रकाश के बिना आगे बढ़ने की चेष्टा करोगे तो अन्धकार में ठोकर खाओगे इस लिए पहिले ज्ञान का प्रकाश धारण करो। अग्नि का दूसरा गुण ताप वा तेज है। वन में अग्नि लग जाती है। वह निधड़क आगे बढ़ती है और जो वस्तु उसके सामने आती है उसे भस्म करती चली जाती है। संसार में कौन योद्धा है, जो उसके सामने आकर उसकी गति को रोक सके। तुम भी अपने अन्दर अग्नि

का सा उग्र तेज धारण करो। तब आगे बढ़ सकोगे। अन्यथा कौन बढ़ने देता है ?

किंतु तेज प्राप्त करके तुम अग्नि के समान नाशक मत बनो। अर्थात् ऐसा न करो कि संसार में जो कुछ सामने आये उसे अपने तेज से भस्म करते चले जाओ। ऐसा करने से तुम आगे तो बढ़ सकोगे पर मनुष्यों के हृदयों में तुम्हारे लिए सत्कार के भाव उत्पन्न न होंगे। अर्थात् तुम "दक्षिण" दिशा के स्वामी न बन सकोगे। यदि तुम चाहते हो कि "प्राची" के साथ ही दक्षिण दिशा के भी स्वामी बन जाओ तो तुम्हें "अग्नि" बनते हुए "इन्द्र" भी बनना उचित है। तुम इन्द्र कैसे बनोगे ? अपने प्राप्त किए ज्ञान और तेज को योग्य-ठीक रीति से काम में लाने से तुम इन्द्र बन सकते हो। "इन्द्र" का अर्थ राजा है राजा अपने तेज से दुष्टों का ही नाश करता है श्रेष्ठों का नहीं। श्रेष्ठों की तो वह सदा रक्षा करता है। अतः यदि तुम दक्षिण दिशा के भी स्वामी बनना चाहते हो तो अपने तेज को दुष्टों के नाश और श्रेष्ठों की रक्षा के लिए काम में लाओ तब संसार तुम्हारा आदर करता हुआ तुम्हें अपनी दाहिनी ओर बिठावेगा वा तुम्हें अपना दाहना बाजू समझेगा। मानो आप दक्षिण दिशा के स्वामी बन जायेंगे।

यदि तुमने "अग्नि" और "इन्द्र" (राजा) के गुण धारण कर लिए हैं तो तुम "प्राची" और "दक्षिण" दो दिशाओं के अधिपति बन बैठे हो पर शेष दिशाओं के स्वामी बनने के लिए अभी तुम्हें अनेक और गुण प्राप्त करने हैं। अब पहले विचारो कि "प्रतीची" दिशा का स्वामी बनने के लिए तुम्हें क्या गुण प्राप्त करने चाहिएँ ? इस दिशा का स्वामी "वरुण"

बताया गया है। "वरुण" का अर्थ श्रेष्ठ है- अथवा ऐसा मनुष्य जिसे दूसरे मनुष्य अपने अन्तःकरण से ग्रहण करें। "वरुण" बनने के लिए तुम्हें आन्तरिक श्रेष्ठता प्राप्त करनी पड़ेगी। अर्थात् तुम्हें अपना अन्तःकरण ऐसा शुद्ध और पवित्र बनाना होगा जिस पर पाप का कोई धब्बा न हो। यदि राजा का वैयक्तिक जीवन (Private Life) पापमय होता है तो लोग उसका केवल इसलिए सत्कार करते हैं कि वह अपने तेज द्वारा दुष्टों से उनकी रक्षा करता है। पर उनके हृदय में उसके लिए पूज्य भाव नहीं होता। अर्थात् वह अपने स्वार्थ के लिए उसे राजा मान लेते हैं किन्तु उनका हृदय उसे ग्रहण नहीं करता। हृदय के अन्दर उस के लिए ग्लानि बनी ही रहती है। अतः "प्रतीचीदिग्" के अधिपति बनने के लिए तुम्हें "वरुण" (श्रेष्ठ) बनना होगा।

अब तीन दिशाओं पर तुम्हें प्रभुत्व प्राप्त हो गया। चौथी दिशा "उदीची" के भी स्वामी बनना चाहते हो तो तुम्हें सोम बनना पड़ेगा। "उदीची दिग्" के स्वामी बनने का अर्थ यह है कि तुम ऊपर उठ सको आगे बढ़ने और ऊपर उठने में भेद है। मनुष्य अपने उग्र बल, पराक्रम से आगे बढ़ सकता है पर ऊपर नहीं उठ सकता। ऊपर उठने का तात्पर्य यह है कि संसार के विद्वान, संसार के वीर योद्धा, संसार के धर्मात्मा सब तुम्हें अपने से ऊंचा समझें। और यह बात "सोम" बनने से ही प्राप्त हो सकती है। "सोम" का अर्थ शान्ति देने वाला, जल और चन्द्रमा है। तुम्हारा स्वभाव अत्यन्त शान्त हो। अर्थात् ऐसा न हो कि थोड़े दुःख से व्यथित हो जाओ. अथवा थोड़ा सुख प्राप्त होने पर तुम कुप्पे की तरह फूल जाओ। तुम्हारा स्वभाव जल के समान ठंडा वा चंद्रमा के समान आल्हाद देनेवाला हो। दुष्टों के लिये "अग्नि" होते हुए भी श्रेष्ठों के साथ तुम्हारा वर्ताव

जल की तरह हृदय को शान्त करने वाला और चन्द्रमा के समान मन को प्रसन्न करने वाला हो। यही मानव चरित्र की उच्चता है। किसी उर्दू कवि ने क्या अच्छा कहा है—

है वही इन्सां रहे जो इस कदर हरदिल अज़ीज़।
सुन के दुश्मन जिस के मरने की खबर रोने लगे।

"ध्रुवादिग्" का स्वामी बनने के लिए तुम्हें "विष्णु" के समान गुण ग्रहण करने होंगे। "विष्णु" सूर्य का नाम है। वह "ध्रुव" अर्थात् एक जगह खड़ा हुआ है। और वहीं खड़ा हुआ तीनों लोकों (द्यौ. अन्तरिक्ष और पृथिवी) को प्रकाशित कर रहा है। इसी प्रकार से तुम्हारे धार्मिक चरित्र का प्रकाश संसार में फैले। तुम प्रत्येक थान में सूर्य के समान 'ध्रुव" बनो। धर्म मार्ग से कभी विचलित न हो चाहे उस के लिए कितने ही कष्ट भी उठाने पड़ें और चाहे हकीकत राय की तरह तुम्हारे प्राण भी चले जायें। भर्तृहरि ने कहा है—

निन्दन्तु नीति निपुणा यदि वास्तवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।

अर्थ— नीति निपुण लोग चाहे निन्दा करें और चाहे स्तुति करें, लक्ष्मी चाहे रहे, चाहे चली जाय। मृत्यु चाहे आज ही आजावे, चाहे युगों तक जीवित रहे। परन्तु धीर पुरुष न्याय के पथ मे कभी विचलित नहीं होते।

रघुकुल रीति यही चलि आई,
प्राण जांय पर वचन न जाई।

यह है तुम्हारे चरित्र की दृढ़ता वा ध्रुवता। इस को प्राप्त करके ही तुम ध्रुव दिशा के स्वामी कहला सकते हो।

वेद में कहा है—

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्यचन्द्रमसाविव।

ऋ० ५।५१।७

अर्थ— धर्म के मार्ग पर सूर्य और चन्द्रमा के समान चलो।

क्या सूर्य चन्द्रमा कभी अपने मार्ग का त्याग करते हैं? कदापि नहीं। यही उन के अन्दर ध्रुवता है। यही ध्रुवता तुम्हें प्राप्त करनी है। "गंगा गये गंगादास जमुना गये जमुना दास" यह कहावत तुम्हारे चरित्र पर न घटनी चाहिये।

"ऊर्ध्वादिग" के स्वामी बनने के लिये तुम्हें "बृहस्पति" अर्थात् वेद वाणी के (पति-पालयति) पालक वा रक्षक बनना होगा। प्रति दिन वेद पढो और वेद वाणी संसार में फैलाओ। यही बृहस्पति बनना और यही "ऊर्ध्वादिग" अर्थात् सब से ऊपर की दिशा का स्वामी बनना है।

अब कोष्टक के तीसरे स्तम्भ पर दृष्टि डालिए। इसमें यह बताया गया है कि दिशाओं के स्वामी बन कर किन शत्रुओं से अपनी वा दूसरों की रक्षा करनी है। वे छः शत्रु असित, तिरश्चिराजी, पृदाकु, स्वज, कल्माषग्रीव और श्वित्र नाम से वर्णन किए गये हैं। वेद में ये नाम सर्पों के भी हैं। सर्प मनुष्य का सब से बड़ा शत्रु है। वह हमारे ही घर में छुप कर रहता है और हमीं पर चोट चलाता है। वह अत्यन्त कुटिल

और घातक हैं। कहावत प्रसिद्ध है "काले का काटा पानी तक नहीं मांगता" इससे प्रकट है कि काला सर्प कितना हिंसक है। अथर्व वेद में लिखा है "सर्पस्त्वा हनिष्यति" (अथर्व० ११।४।४७) सर्प हनन करेगा इस लिए सर्पों से रक्षा करनी अति आवश्यक है।

परन्तु यहां केवल सर्पों से ही रक्षा का तात्पर्य्य नहीं है किन्तु यह दिखलाया गया है कि सर्पों के समान कुटिल और घातक मनुष्यों से अथवा ऐसे स्वभाव से भी मनुष्यों को बचना उचित है। यजुर्वेद में लिखा है "माऽहिर्भूर्मा पृदाकुः" (यजु० ६।१२) हे मनुष्य! तू (अहि) सर्प (मा भूः) मत बन, (पृदाकुः) अजगर (मा भू) मत बन। इस का स्पष्ट तात्पर्य यही है कि मनुष्यों को सर्पों के समान कुटिल और हिंसक न बनना चाहिये। अहो! कैसा उत्तम उपदेश है।

असित आदि शब्दों के अर्थों से क्या २ भाव निकलते हैं यह पहिले लिखा जा चुका है। दुबारा लिखने की आवश्यकता नहीं।

अब इषुओं पर दृष्टि डालो। अग्नि के से तेज और प्रकाश की प्राप्ति के लिए आदित्य ब्रह्मचारी बनो। जो मनुष्य ४८ वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचारी रह कर वेदादिशास्त्रों का अध्ययन करते हैं वही अग्नि के समान तेजस्वी और ज्ञानी बन सकते हैं। यदि तुम्हारा लक्ष (निशाना) इन्द्र बनना है तो पितर, अर्थात् प्रजा पालन के गुण रूपी बाण से इस लक्ष को बींधो। "वरुण" अर्थात् सर्व प्रिय बनने के लिए अन्न का दान करो। "सोम" बनना चाहते हो, तो तुम्हारा प्रेम (अशनि) व्यापक हो अर्थात् तुम सब के साथ एक सा प्रेम करो। "विष्णु" बनने के लिये (वीरुध) वीरता, धीरता, और दृढ़ता की आवश्यकता है। और

"बृहस्पति" बनने के लिये सारे संसार में (वेद) ज्ञान की "वर्षा" करनी होगी।

चारों आश्रमों के सम्बन्ध में उपदेश। पाठक! अभी घबडायें नहीं। यद्यपि लेख बहुत बढ़ गया है। पर अभी कुछ और भाव भी हैं जो इन मन्त्रों से प्रगट होते हैं। और उनका वर्णन करना भी अति आवश्यक प्रतीत होता है। पहले अलग २ मन्त्र की व्याख्या करते हुए हमने दिखलाया था, कि ये मंत्र चारों वर्णों के सम्बन्धमें किस प्रकार से उपदेश दे रहे हैं। अब हम यह दिखलाना चाहते हैं, कि यह मन्त्र चारों आश्रमों पर भी किस उत्तम रीति से घट सकते हैं।

(१) सूर्य्य जब पूर्व दिशा से उदय होता है तो उसका तेज और प्रकाश अत्यन्त न्यून होता है। पर धीरे २ वह अपने तेज और प्रकाश को बढ़ाता है। इसी प्रकार से जब मनुष्य उत्पन्न होता है तो वह भी बाल सूर्य की भांति बल और ज्ञान से हीन होता है। वह मानो अग्नि की छोटी सी चिङ्गारी है जिस में न बहुत प्रकाश है न ताप; पर वही छोटी सी चिङ्गारी अनुकूल अवस्थाओं के प्राप्त होने पर प्रचण्ड अग्नि का रूप धारण कर लेती है। छोटे बालक को प्रथम संसार का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। मानो (असित) अज्ञान रूपी अन्धकार से वह घिरा रहता है। वह अज्ञान ही मानो शत्रु है। वह संसार की प्रत्येक वस्तु को घूर २ कर देखता है और इस प्रकार से थोड़े ही दिनों में बहुत सी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इस घूर २ कर देखने में (आदित्य) सूर्य की किरणें उसकी सहायक बनती हैं (क्यों कि अन्धेरे में तो कुछ भी दिखाई नहीं देता) अर्थात् जिस प्रकार से वाणों द्वारा शत्रु भगाया जाता है

उसी प्रकार से सूर्य की किरणें बालक के (असित) अज्ञान रूपी शत्रु को भगाती हैं। इसी लिए मन्त्र में उन्हें "इषु" कहा गया है।

(२) अब दूसरे मन्त्र पर विचार कीजिये। ८ वर्ष की आयु तक बच्चा माता पिता के घर में रह कर कुछ साधारण सा ज्ञान प्राप्त कर लेता है। पर वह पितृ गृह में रह कर 'दक्षता' को प्राप्त नहीं हो सकता। इस मतलब के लिये उसे गुरुकुल में भेज दिया जाता है। मानो गुरुकुल में जाना दक्षिण दिशा अर्थात् 'दक्षता' प्राप्त करने का मार्ग है। गुरुकुल में रह कर बालक २४, ३६ वा ४८ वर्ष की आयु पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्य का व्रत पालन करता हुआ वेद का अध्ययन करता है और इससे उसके 'ज्ञान' और 'बल' दोनों की वृद्धि (दक्ष-वृद्धौ) होती है। और वह पूर्ण तेज को प्राप्त करके "इन्द्र" (पूर्ण तेजस्वी) बन जाता है। इसी लिए मंत्र में दक्षिण दिशा का अधिपति "इन्द्र" कहा गया है। "इन्द्र" का दूसरा अर्थ "इन्द्रियों का स्वामी" है। ब्रह्मचारी ही इन्द्रियों का स्वामी होता है क्योंकि सारी इंद्रियां पूर्ण रूप से उसके वश में होती हैं। शेष मनुष्य तो इंद्रियों के दास होते हैं।

जब यौवन आरम्भ होने लगता है, तो बच्चों का चरित्र बिगड़ने की बड़ी सम्भावना होती है। उस समय "तिरश्चिराजी" बुरे चरित्र के लोगों (टेढ़े तिरछे बाँके जवानों) से उनकी रक्षा करनी पड़ती है। उस समय (पितर) गुरु उन की पूर्ण रूप से देख भाल रखता है और चरित्रहीन लोगों (वा बुरे विचारों) से उनकी रक्षा करता है इसी लिए "पितर" को यहां (इषुः) बाण कहा गया है। गुरुकुल में गुरू ही बच्चों का पालन पोषण करता है और गुरू ही उनका रक्षक होता है;

इसलिए यहां पितर शब्द गुरु वाचक ही है। यह शब्द किस उत्तमता से शिष्य के विषय में गुरु का कर्तव्य बता रहा है

(२) गुरुकुल की शिक्षा समाप्त करने के पश्चात ब्रह्मचारी अपने घर को वापिस आता है। इसी को वेद मन्त्र में (प्रतीचीदिग्) शब्द से प्रगट किया है। "प्रतीची दिग्" का अर्थ जैसा कि हम पहिले वर्णन कर चुके हैं, वापिस लौटने की दिशा है। घर आकर वह किसी कन्या से वरा जाता है। (और यदि वह ब्रह्मचारिणी है तो किसी पुरुष से वरी जाती है) इस लिए उसकी संज्ञा "वरुण" हो जाती है। इस आयु में "काम" ही "पृदाकु" अर्थात भयंकर अजगर है। जो मनुष्य इस "काम" रूपी अजगर के वश में पड़ जाते हैं, वे उसके मुख में पड़ कर नष्ट हो जाते हैं। इस लिए इस अजगर से रक्षा होनी आवश्यक है।

यह भूखा अजगर जब मनुष्य पर हल्ला बोल देता है, तो इस को (अन्न) भोजन देकर और उसकी भूख मिटा कर ही मनुष्य उससे अपनी रक्षा कर सकता है। काम की भूख मिटाने का साधन स्त्री (स्त्री के लिए पुरुष) है। मानो स्त्री काम का अन्न है। इसीलिए यहां अन्न को "इषु" कहा गया है। विवाह से काम रूपी अजगर की भूख शांत होती है जिस से मनुष्य काम के घातक आक्रमण से बच जाता है।

पाठक प्रश्न करेंगे, कि विवाह का उद्देश्य संतान उत्पत्ति है वा काम शांति ? इसका उत्तर यह है, कि विवाह से दोनों ही कार्य सिद्ध हो जाते हैं। इस लिए विवाह का उद्देश्य संतान उतपत्ति और काम शांति दोनों ही हैं; मुख्य उद्देश्य तो संतान उत्पत्ति ही है पर गौण उद्देश्य काम ※शांति भी है। यदि हम गौण को मुख्य और मुख्य को गौण बनालेंगे तो अवश्य हानि होगी।

※ फुट नोट देखो पृष्ट १७०।

विवाह का उद्देश्य काम शांति है इस में पाठकों को कुछ अपवित्रता या अश्लीलता प्रतीत होती होगी। पर यह बात कि इस में कोई अपवित्रता वा अश्लीलता नहीं है एक उदाहरण द्वारा समझ में आसकती है। मैं आप से प्रश्न करता हूं, कि भोजन का उद्देश्य क्या है? तो इसके उत्तर में आप कहेंगे, कि शरीर की पुष्टी ही भोजन का उद्देश्य है। हां पाठक! आपका यह उत्तर तो ठीक है, पर मैं पूछता हूं कि क्या भूख का निवारण करना भोजन का उद्देश्य नहीं है। यदि आप थोड़ा सा विचार करेंगे तो आपको विदित हो जावेगा कि भोजन करने से शरीर की

*संस्कार विधि में विवाह संस्कार की विधि आरम्भ होने से पहिले जिन मंत्रों से वर वधु का स्नान करना लिखा है। उनमें से पहला मंत्र यह है—

ओं काम वेद ते नाम मदो नामासि समानयामुᳫ सुरा ते अभवत्। परमत्र जन्माग्ने तपसो निर्मितो ऽसि स्वाहा ॥

इसका अर्थ संस्कार चंद्रिका में निम्न लिखित किया गया है।

अर्थ—हे काम! तेरे नाम को सब जगत जानता है। मदकारी तू प्रसिद्ध है। तेरे लिये यह कन्या मद साधन हो चुकी है। अथवा यह [सुरा] जल [अन्न—सुरा और अन्न दोनों का तर्थ जल है इस लिये "सुरा" और "अन्न" दोनों समानार्थक हैं] तेरे शांत्यर्थ उपस्थित हैं। इस कन्या को वा इस मद को [वा इस पति को] मान सहित करे। हे कामाग्ने! इस स्त्री जाति में ही तेरा उत्कृष्ट जन्म है। गृहस्थाश्रम पालन रूप उत्कृष्ट धर्म के लिये तुझे ईश्वर ने बनाया है।

पुष्टि और भूख निवारण दोनों उद्देश्य पूरे हो जाते हैं। इस लिये दोनों ही भोजन के उद्देश्य हैं। अब यदि यह विचारा जावे; कि इन में से मुख्य कौन है और गौण कौनसा, तो प्रतीत होगा, कि शरीर की पुष्टि मुख्य उद्देश्य है और भूख निवारण गौण है। इसी कारण हमें जब भूख लगती है तो हम ऐसा भोजन खाना पसंद करते हैं जो शरीर को पुष्ट करने वाला हो। अन्यथा भूख तो ऐसे पदार्थ खा कर भी दूर की जा सकती है जो शरीर को हानि पहुंचाने वाले हों।

इस उदाहरण से समझ में आ गया होगा, कि विवाह का मुख्य उद्देश्य संतान उत्पत्ति और गौण उद्देश्य काम शांति भी है। और मंत्र में "पृदाकु रक्षिता अन्नम इषवः" ये शब्द इसी भाव को प्रगट करते हैं जो हम ने ऊपर वर्णन किया है।

"पृदाकु" का अर्थ पूर्ण करने वाला भी है। स्त्री पुरूष को पूर्ण करती है। इसी लिये स्त्री पुरुष की अर्धाङ्गिनी कहलाती है। अतः "पृदाकु रक्षिता अन्नमिषवः" का अर्थ यह भी हो सकता है कि "वरुण" होकर पुरुष अपने को पूर्ण करने वाली अर्थात् अर्द्धाङ्गिनी की अन्न वस्त्रादि द्वारा रक्षा करता है। (इसी प्रकार से स्त्री अपने पति का भोजनादि से पालन पोषण करती है)।

(४) विवाहके कुछ दिनों पश्चात् मनुष्य की कामाग्नि शान्त हो जाती है। इस लिये अब उसकी संज्ञा "सोम" होती है। उस के अंतःकरण में अब काम का नहीं, किंतु प्रेम का राज्य होता है। गृहस्थाश्रम से पहिले मनुष्य के अन्दर स्वार्थपरता अधिक होती है। वह जो कुछ करता है केवल अपने लिये करता है। वह ब्रह्मचर्य्य व्रत का पालन करता है तो केवल अपने शारीरिक बल की

वृद्धि के लिये। विद्या पढ़ता है तो अपना ज्ञान बढ़ाने के लिये। पर गृहस्थ में आकर उसकी स्वार्थपरता परार्थ में परिणत हो जाती है। अब वह जो कुछ करता है केवल अपने लिये नहीं, किंतु सारे परिवार के लिये करता है। उसके प्रेम का घेरा अब फैल जाता है। उसे अब केवल अपने स्वास्थ्य की चिन्ता नहीं रहती, किन्तु स्त्री, बच्चे सबके स्वास्थ्य की चिन्ता होती है। बच्चा बीमार हो जाता है तो नींद हराम हो जाती है। पत्नी को जरा तकलीफ होती है तो वैद्यों और डाक्टरों पर दौड़ा फिरना है। यह पहिली दिशाओं से (उदीचीदिक्) अधिक उच्चता की दिशा है। इसी लिये तो गृहस्थाश्रम को दूसरे सब आश्रमों से बड़ा बतलाया गया है। कारण कि इससे ही दूसरे सब आश्रमों का पालन होता है। मनु जी कहते हैं:—

> यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
> गृहस्थे नैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥
>
> मनुस्मृ० ३ । ३७

अर्थ—जिस कारण तीनों आश्रम वालों का, ज्ञान और अन्न से गृहस्थ ही धारण करता है इससे गृहाश्रमी बड़ा है।

(उदीचीदिग्) अर्थात् उच्चतर दिशा का स्वामी [सोम] गृहस्थी है। वह अपने परिवार ही के लिये नहीं अपितु सारे आश्रमों के लिये सुख और शान्ति का कारण है। वह सारे संसार की सेवा करता है पर उसका विशेष कर्तव्य [स्वजः रक्षिता] अर्थात [स्व + ज = अपने से जो उत्पन्न हुआ] अपनी सन्तान * की रक्षा करना है। और संतान की

* स्वजः A son or child (Sanskrit English Dictionary by Vaman Shirma Apte M. A.)

रक्षा बिना प्रेम के नहीं हो सकती [अशनि] ☸ व्यापक प्रेम ही है, जो पुत्र हो वा पुत्री, बड़ी संतान हो वा छोटी, सब ही में एकसा व्यापता है। इसी प्रेम के कारण गृहस्थी अपने सुखको संतान के सुख पर न्योछावर कर देता है। अनेक प्रकार के दुःख उठा कर द्रव्य कमाता है और सन्तान को सब प्रकार का सुख पहुंचाता है।

[५] मनुस्मृति में लिखा है—

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः।
वनेवसेत्तु नियतो यथा वद्विजितेन्द्रियः॥

मनु० ६। १

[अर्थ] स्नातक द्विज यथा विधि गृहस्थाश्रम में रह कर नियम पूर्वक जितेन्द्रियता से वन में निवास करे अर्थात वानप्रस्थाश्रम को स्वीकार करे।

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्व लीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत॥

मनु० ६। २

[अर्थ] गृहस्थ जब देह की त्वचा ढीली और शिर के बाल श्वेत और संतान की भी सन्तान देख लेवे तब वन का आश्रय करे।

☸ 'अशनि' का अर्थ व्यापक है। गृहस्थी का प्रेम सर्व व्यापक होना चाहिये। स्त्री से प्रेम, बच्चों से प्रेम, जाति के ब्रह्मचारियों से प्रेम, अतिथियों से प्रेम, देश से प्रेम, पशु पक्षियों से प्रेम, मानो संसार में सब ही के साथ गृहस्थी को प्रेम करना पड़ता है। अतः उसका प्रेम [अशनि] बिजली के समान सर्व व्यापक होता है।

गृहस्थ के पश्चात् मनुष्य को वानप्रस्थाश्रम ग्रहण करना चाहिये। पांचवें मंत्र में इसी आश्रम के सम्बंध में सूचना दी गई है। गृहस्थाश्रम भोगों का आश्रम है और वान प्रस्थ तप का। तप का जीवन दृढ़ता वा स्थिरता का जीवन है। इसमें मन और इन्द्रियां सब ही को वश में रखना पड़ता है। इसीलिये यह [ध्रुवादिग्] अर्थात् स्थिरता वा अचलता का मार्ग है। "ध्रुव" परमात्मा का नाम भी है। जैसा कि कंठ-उपनिषद् में लिखा है।

जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं नह्य ध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।

नचिकेता कहता है, 'मैं जानता हूं कि जो नाम निधि [धन] है, वह सब अनित्य है, क्यों कि वह जो [ध्रुव] अटल नित्य परमात्मा है, वह इन अध्रुवों से नहीं प्राप्त होता है।" उसी ध्रुव परमात्मा की प्राप्ति के लिये वान प्रस्थाश्रम ग्रहण किया जाता है। इसी लिये यह ध्रुव की दिशा अर्थात् ईश्वर प्राप्ति का मार्ग है (गृहस्थाश्रम में तो अध्रुव पदार्थों-द्रव्यादि को ही प्राप्त किया जाता है।) इस मार्ग में पड़ कर मनुष्य "विष्णु" बनता है। 'विष्णु" का अर्थ सूर्य्य, अग्नि, और आकर्षण शक्ति है। जिस प्रकार से सूर्य वा अग्नि तपता है। उसी प्रकार से वानप्रस्थी को भी तप * का जीवन व्यतीत करना पड़ता है। और जिस प्रकार से सूर्य वा अग्नि स्वयं तपता हुआ संसार को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार से वानप्रस्थी भी तप का जीवन व्यतीत करता हुआ वेदों का अध्ययन करके अपने अन्दर आत्मिक प्रकाश को बढ़ाता है और ब्रह्मचारियों को शिक्षा देकर उस प्रकाश को चारों ओर फैलाता

* देखो मनु० अध्याय ६।

है। अथवा जिस प्रकार से पृथिवी आकर्षण-शक्ति द्वारा सर्व पदार्थों को अपने ऊपर धारण करती है। उसी प्रकार से वानप्रस्थी भी ब्रह्मचारियों को अपनी ओर खेंचता और धारण करता है। और फिर उन ब्रह्मचारियों में (वीरुध) वीरता और दृढ़ता के गुण उत्पन्न करके, वा ज्ञान रूपी औषधीद्वारा (कल्माष ग्रीव) काले सर्प के समान मनुष्य के जीवन को नष्ट करने वाला जो अज्ञान है उससे रक्षा करता है।

(६) अन्तिम और सबसे ऊपर का मार्ग सन्यासमार्ग है। "ऊर्ध्वादिग्" शब्द इसी सब से ऊपर की दिशा का द्योतक है। इस दिशा में पहुंच कर मनुष्य "बृहस्पति" अर्थात् बड़े से बड़ों का स्वामी बन जाता है। इसीलिये सन्यासी को देख कर महाराजा अधिराज भी आसन छोड़ देता है. और सन्यासी को ऊपर बिठाकर आप नीचे बैठता है। और उसकी आज्ञा को हाथ जोड़कर उसी प्रकार पालन करता है। जिस प्रकार से सेवक स्वामी की आज्ञा का पालन करता है।

जिस जाति के मनुष्य सदाचार को त्याग के व्यभिचारादि दुराचारों में लिप्त होजाते हैं उस जाति के शरीर से मानो (श्वित्र) कोढ़ होगया है जिससे हर समय दुर्गन्ध ही निकलती है। ऐसी जाति को संसार की दूसरी जातियां घृणा की दृष्टि से देखती हैं। इस दुराचार के कोढ से जाति की रक्षा करना केवल सन्यासी ही का काम है। और यह रक्षा का काम वह उपदेश के बाणों की वर्षा द्वारा ही करता है। अर्थात् जब जाति की जाति पाप और दुराचार में फंस जाती है, तो सन्यासी ही उपदेशों की वर्षा करके जाति को सदाचार सिखाते हैं। सन्यासी ही महाराजाओं को भी उपदेश द्वारा फटकार बता के पाप के मार्ग से हटा

सकते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महराज ने महाराजा साहिब जोधपुर को वैश्या से सम्बन्ध रखने के कारण जो फटकार बतलाई थी, वह जगत् प्रसिद्ध है।

इस प्रकार से इन मन्त्रों में चार आश्रमों के सम्बन्ध में भी कैसा उत्तम उपदेश भरा पड़ा है।

इन मंत्रों का नाम मनसा परिक्रमा इसलिये है, कि इनका मनन करते हुए मन को सब दिशाओं में घुमाना पड़ता है।

विचार शील पुरुष तो इन मंत्रों पर पूर्ण रूप से विचार करके (जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है) अनेक उत्तम २ उपदेश ग्रहण कर सकते हैं। साधारण मनुष्य इनसे यह उपदेश ग्रहण करें कि संसार में अनेक शत्रु हैं, जो हमारा अनिष्ट कर सकते हैं। परंतु परमात्मा की अनेक शक्तियां भी प्रत्येक दिशा में हमारी रक्षा करने के लिये उद्यत रहती है। हमें उनका आदर करके वा उन्हें उपयोग में लांकर अपनी रक्षा करनी चाहिये और हमें संसार में किसी से द्वेष न रखना चाहिये। जब परमात्मा की अनेक शक्तियां वा स्वयं परमात्मा अनेक प्रकार से हमारी रक्षा कर रहे हैं तो हमें संसार में किस का डर है? और इसलिये हमें किसी भय से भी धर्म मार्ग से च्युत न होना चाहिये।

(७) उपस्थानम् ।

[१] ओ३म् । उद्वयं तम सस्परिस्वः पश्यन्त उत्तरम् । देवंदेवत्रा सूर्यमगन्मज्योतिरुत्तमम् ।

यजु २५ । १४

शाब्दिक अर्थ—(वयं) हम सब (उत्) उत्कृष्ट (तमसः) अव्यक्त प्रकृति से (परि) परे (उत्तरं) अधिक उत्कृष्ट (स्वः) स्व-आत्मा को (पश्यन्त) देखते, अर्थात् अनुभव करते हुए (उत्तमं) सब से उत्कृष्ट (ज्योतिः) परमात्मतेज को [अगन्म] प्राप्त करते हैं, जो [देवत्रा देवं] सब दिव्य पदार्थों का प्रकाशक और (सूर्यं) स्वयं प्रकाशमान और सबका प्रेरक है।

भावार्थ—हमें पहिले उत्कृष्ट प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, उसके पश्चात् उससे अधिक उत्कृष्ट आत्मा का अनुभव प्राप्त करना चाहिये और उसके पश्चात् सबसे उत्तम परमात्मदेव का अनुभव प्राप्त किया जा सकता है, जो दिव्य पदार्थों का प्रकाशक और सारे संसार का प्रेरक है ।

व्याख्या ।

पस्थान का अर्थ [उप] समीप [स्थान] स्थित होना वा बैठना है। अर्थात् परमात्मदेव की समीपता प्राप्त करने का नाम उपस्थान है। "उपासना" शब्द का भी यही अर्थ है। अर्थात् (उप) समीप [आसना] आसन ग्रहण करना। अतः उपस्थान और उपासना दोनों पर्याय वाची शब्द हैं। पाठक पूछेंगे, परमात्मा तो सर्व व्यापक है इसलिये हर समय ही समीप है, फिर उनके पास बैठने का क्या अर्थ है? पाठक आपका यह कहना सत्य है, कि परमात्मा सर्व व्यापक होने से हर समय ही हमारे समीप है, पर यह तो बतलाइये कि हम में से कितने हैं जो हर समय परमात्मा को अपने पास अनुभव करते हैं। आप की छत पर अमृत-बेल उगी हुई है पर यदि आप उसे नहीं जानते तो आप के लिये तो वह केवल पास ही है। इसी प्रकार से परमात्मदेव के पास होते हुये भी यदि हम उसे अनुभव नहीं करते तो इस अवस्था में वह हमसे अत्यन्त दूर ही है। क्या आप नहीं देखते, कि कितने मनुष्य हैं जो परमात्म देव को ढूंढने के लिये न जाने कहां २ मारे २ फिरते हैं? और फिर भी परमात्मा के दर्शन उन्हें नहीं होते। इसी लिये वेद में कहा है—

तद्दूरे तद्वन्तिके ।

अर्थ—वह दूर भी है और वह पास भी है।

जो मनुष्य उसे ज्ञान चक्षु से नहीं देखते उनसे वह अत्यंत दूर है। और जो उसे अनुभव कर लेते हैं उनके वह समीप है।

अज्ञानियों से रहता है केवल वह दूर दूर।
खुल जाये ज्ञान चक्षु तो वह है मिला हुआ॥

अतः पाठक! यहां उपस्थान का तात्पर्य ज्ञान चक्षु से अनुभव करना ही है। और इस मंत्र में यही बतलाया गया है कि परमात्मा को किस प्रकार में अनुभव किया जा सकता है। अब मंत्र के शब्दों पर विचार कीजिये।

परमात्मा को अनुभव करने के लिये पहले प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करना उचित है, उसके पश्चात् जीवात्मा का और फिर परमात्मा का अनुभव प्राप्त किया जासकता है। प्रकृति को यहां "तमसः" शब्द से प्रगट किया गया है जिसका अर्थ अंधकार, अज्ञान वा जडता है। शास्त्रकारों ने यद्यपि सत्, रज, तम, प्रकृति के ये तीन गुण माने हैं पर जड़ होने से प्रकृति में 'तम' गुण ही प्रधान है। रज और सत् गुण प्रकृति में आत्मा के सम्बन्ध से ही प्रगट होते हैं। यह प्रकृति उत्कृष्ट है, क्योंकि प्रथम तो प्राकृतिक संसार जीवात्मा के कल्याण के लिये है। और दूसरी बात यह है कि अव्यक्त प्रकृति इस दृश्य जगत् से सूक्ष्म है। पहिले उपासक को प्रकृति के स्वरूपका अनुभव करना चाहिये। जब प्रकृति का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होगया तो फिर जीवात्मा का ज्ञान प्राप्तकरना उचित है। क्योंकि वह प्रकृति से (परि) परे अर्थात् अधिक सूक्ष्म है और [उत्तर=उत+तर] अधिक उत्कृष्ट है। प्रकृति केवल "सत्" है। जीवात्मा "सत् चित्" है। यह "चित्" अर्थात् चेतनता का गुण ही जीवात्मा में प्रकृति से अधिक है। इसीलिये जीवात्मा प्रकृति से

अधिक उत्कृष्ट है। अव्यक्त प्रकृति के ज्ञान में चेतनता का ज्ञान अधिक करने से जीवात्मा का अनुभव प्राप्त होजाता है। जीवात्मा के अनुभव के पश्चात् [उत्तमं-ज्योति] सर्व उत्तम ज्योति-परमात्मा के स्वरूप का अनुभव प्राप्त करना चाहिये। वह जीवात्मा से भी अधिक सूक्ष्म और उत्तम है। कारण, कि प्रकृति "सत्" जीवात्मा "सत् चित्" और परमात्मा "सत् चित् आनन्द" स्वरूप है; अर्थात् उसके स्वरूप में आनंद की विशेषता है। इसी लिये प्रकृति को "उत्" जीवात्मा का "उत्+तर" और परमात्मा को "उत्+तम" कहा है। जीवात्मा के अनुभव में आनंद का अनुभव और मिलाने से परमात्मा का अनुभव प्राप्त होता है। इसके साथ ही उपासक को यह भी समझलेना चाहिये, कि वह परमात्मदेव जिसका स्वरूप 'सत् चित् आनंद' है। वह [सूर्य्य] अर्थात् सर्वव्यापक, ज्योति स्वरूप वा ज्ञान स्वरूप, और सबका प्रेरक भी है। अर्थात् संसार में जो भी गति प्रतीत होरही है वह सब परमात्मा की प्रेरणा से ही उत्पन्न हुई है। अन्यथा जड़ प्रकृति में गति नहीं है। (देखो अघमर्षण मंत्र की व्याख्या) और सारे विश्व को परमात्मा तभी प्रेरणा दे सकता है जब कि वह सारे विश्व में व्यापक हो। इस प्रकार से प्राकृतिक संसार द्वारा उपासक को परमात्मा की सर्व व्यापकता और प्रेरकता का अनुभव करना उचित है। संसार की गति ज्ञान पूर्वक है। इसी से परमात्मा के ज्ञान स्वरूप होने का अनुभव करो। परमात्मा को (देवत्रा देवं) अर्थात् दिव्य पदार्थों का प्रकाशक कहा है, जिसका तात्पर्य यह है कि संसार के जितने दिव्य गुण युक्त पदार्थ हैं उन सब को दिव्यता परमात्मा से प्राप्त हुई है। सूर्य को तेज परमात्मा से प्राप्त हुआ है। चंद्रमा को शीतलता भी उसी

ने दी है। अग्नि को भी ताप और प्रकाश आदि दिव्य गुण उसी देव से प्राप्त हुए हैं। इसी लिये उसे (सर्व भूतान्तरात्मा) सब भूतों* का अन्तर-आत्मा कहा है।

(२) ओ३म् । उदु त्यं जात वेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् ।

यजु० ३३-३१

शब्दार्थ—(त्यम्) उस (जातवेदसं) वेद वा ज्ञान के प्रकाशक (देवम्) देव को (केतवः) झंडियां (उत+वहन्ति) उच्च भाव से जताती हैं। (दृशे) यह ज्ञात कराने के लिये, कि वह (विश्वाय सूर्य्यम्) चराचर जगत का आत्मा वा प्राण है।

भावार्थ—उस ज्ञान के प्रकाशक देव को सूर्य्य, चन्द्रसादि झंडियां उच्च भाव से जताती हैं। और यह ज्ञान कराती हैं कि वही देव सारे जगत् का आत्मा वा प्राण है।

व्याख्या।

जो भाव पहले, मंत्र में प्रगट किया गया है, इस मंत्र में भी उससे मिलता जुलता भाव ही प्रगट किया गया है। पहले मंत्र में परमात्मा को "सूर्य्य" (जगत् का प्रेरक वा प्राण) और "देवत्रा देवं" (दिव्य गुण युक्त पदार्थों का प्रकाशक) कहा गया है। यहां भी उस जातवेदस को (उस परमात्मदेव, को जिस से ज्ञान प्रकाशित हुआ है) "विश्वाय सूर्य्यम्" अर्थात् सारे संसार का प्रेरक वा प्राण वा आत्मा वा प्रकाशक कहा गया है।

---

*"भूत" का अर्थ प्राणी भी है। और अग्नि, वायु आदि पंच महा भूत भी।

उस विश्व के आत्मा की प्राप्ति का मार्ग कौनसा है ? इसका उत्तर यह है, कि उस मार्ग पर तो (केतवः) झंडियां लगी हुई हैं, जो (उतवहंति उस विश्वात्मा को उच्चभाव से जता रही हैं। उन्हीं झंडियों के पीछे चलो तो परमात्मदेव के मंदिर तक पहुंच जाओगे।

जिस प्रकार से झंडियां उत्सव मंडप की ओर संकेत करती हैं उसी प्रकार से प्राकृतिक संसार की प्रत्येक वस्तु उस विश्वात्मा की ओर संकेत कर रही है। सूर्य कह रहा है। मेरा अन्तर-आत्मा सूर्य (परमात्मा) मुझे प्रकाश दे रहा है। चंद्रमा कहता है, कि वही देव मेरा भी अन्तरात्मा है। और यह आह्लाद उत्पन्न करने वाली शीतल ज्योति मुझे उसी से प्राप्त हुई है। इसी प्रकार से सँसार के प्रत्येक पदार्थ के भीतर उस विश्वात्मा का अनुभव प्राप्त करो। उसके पश्चात् अव्यक्त प्रकृति के भीतर भी उसी विश्वात्मा को देखो। फिर अपने आत्मा के अन्दर उसकी टटोल करो। इसी प्रकार से एक २ झंडी के पास से गुजरते हुए ब्रह्मज्ञान रूपी अन्तिम झंडी के पास पहुंच जाओगे। और उस अनन्त सूर्यों के प्रकाशक सूर्य के दर्शन कर लोगे' यहि परमात्मा की प्राप्ति का सच्चा रास्ता है जो इन दो मंत्रों ने बतलाया गया है। क्योंकि जो मनुष्य प्रकृति का भी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, वह आत्माका अनुभव कैसे कर सकता है जो प्रकृति से अत्यन्त सूक्ष्म है। और जो स्व-आत्मा का अनुभव नहीं कर सकता उस के लिये परमात्मा का अनुभव असम्भव ही है। अतः एक २ सीढ़ी चढ़ने से ही मनुष्य का परमात्म-अनुभव रूपी अट्टालिका के ऊपर पहुंचना सम्भव है। छलांग मार कर नहीं।

*"तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" उस के प्रकाश से यह सब प्रकाशित होता है। (कठ० उप० व० ५-१५)

(३) ओ३म् चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः । आप्राद्यावा पृथिवी अन्तरिक्ष ँ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्चस्वाहा

यजु० ७—४२

शब्दार्थ—वह (देवानां) देवों (विद्वानों वा दिव्य गुण युक्त पदर्थों) का [चित्रं] विचित्र (उदगात्) प्रकाशित (अनीकं) बल है (मित्रस्य) सूर्य्य (भक्त, प्राण) का, (वरुणस्य) चंद्रमा (श्रेष्ट पुरुष) का और (अग्ने) अग्नि [ज्ञानी पुरुष] का (चक्षु) प्रकाशक है (द्यावा पृथिवी अन्तरिक्ष) द्यौ लोक, पृथिवी लोक और अन्तरिक्ष में (आप्रा) व्यापक है। वह [जगतः] जंगम (च) और (तस्थुषः) स्थावर संसार का (सूर्य्य) प्रेरक और (आत्मा) अन्तर आत्मा है। उस के लिये (स्वाहा=स्व+आ+हा) में पूर्ण त्याग करता हूं।

भावार्थ—वह परमात्मा दिव्य गुण युक्त पदार्थों वा विद्वानों का विचित्र बल है। वही सूर्य, चंद्रमा और अग्नि आदि ज्योतियों का प्रकाशक है और द्यौ लोक, अन्तरिक्ष लोक और पृथिवी लोक में व्यापक है। वही स्थावर और जंगम जगत् का प्रेरक और अन्तर-आत्मा है।

व्याख्या

जब उपासक पहले दो मंत्रों के अनुसार प्रकृति से आत्मा का और आत्मा से परमात्मा का अनुभव कर लेता है तो वह पुकार बठता है कि ओहो संसार में जितने भी दिव्य गुण युक्त पदार्थ हैं, उनमें जो

विचित्र शक्ति प्रतीत होती है, और जिसे हम उन्हीं पदार्थों की निज शक्ति समझते आये हैं वास्तव में वह परमात्मा की शक्ति है। उस के बिना संसार के समस्त पदार्थ शक्ति हीन हैं। दूसरा अर्थ यह भी है कि देवों अर्थात् विद्वानों वा धर्मात्मा पुरुषों के अन्दर जो विचित्र आत्मिक बल दृष्टि गोचर होता है, वह उन्हें परमात्मा से ही प्राप्त होता है। सँसार में तीन बड़ी ज्योतियां हैं सूर्य, चंद्र और अग्नि। इन तीनों को प्रकाशित करने वाला भी परमात्मा ही है। वा यूं कहो कि ईश्वर भक्तों, श्रेष्ट पुरुषों और ज्ञानी जनों का "चक्षु" आंख के समान ज्ञान देने वाला है द्यौ लोक, अंतरिक्ष लोक और पृथ्वी लोक में भी वह सर्वत्र व्यापक है और जड़ और चेतन जगत् को भी वही प्रेरित कर रहा है। क्यों कि वह इन सब का अन्तर-आत्मा है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में लिखा है—

स्वाभाविकी ज्ञान वलक्रिया च

श्वेता० ६। ८

अर्थात् उसका ज्ञान, बल और क्रिया स्वाभाविक है। उपस्थान के इस तीसरे मंत्र में भी परमात्मा के ज्ञान, बल और क्रिया की ओर संकेत किया गया है। अर्थात् वह देवों का विचित्र "बल" है, भक्त जनों, श्रेष्ठ पुरुषों और ज्ञानियों का (चक्षु) "ज्ञान" है, और जड़ और चैतन्य जगत में "क्रिया" है।

जो परमात्मा सब का आत्मा है, सब को धारण कर रहा है, सर्व व्यापक है, सब का प्रकाशक है, और सब पदार्थों का बल है, उस को प्राप्त करने के पश्चात् भक्त (स्वाहा) सब कुछ त्याग देता है।

अर्थात् उसे फिर संसार के किसी सुख वा वैभव की कामना नहीं रहती। और वह अस्समात कह उठता है—

> नहीं पियारी तहसीलदारी, नहीं जजी दरकार।
> यदि राखो अपनी सेवा में किंकर चौकीदार॥
> दयामय लीजिये अब मोहे तार।

(४) ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम् भूयश्च शरदः शतात्॥

यजु० ३६। २४॥

शाब्दिक अर्थ—वह परमात्मा (चक्षुः) सर्व द्रष्टा है। [वा आंख है जो मनुष्यों को धर्म का मार्ग दिखाती है] [देव हितम्] धार्मिक विद्वानों का हितकारी है। (शुक्रं) शुद्ध स्वरूप वा बल स्वरूप है। (पुरस्तात्) सृष्टि के पहिले से ही (उच्चरत्) उदित हुआ है। (पश्येम) हम देखें (शरदः शतम्) सौ वर्ष तक। (जीवेम) हम जीवें (शरदः शतम्) सौ वर्ष तक। (शृणुयाम) हम सुनें (शरदः शतम्) सौ वर्ष तक। (प्रब्रवाम) हम बोलें (शरदः शतम्) सौ वर्ष

तक। (अ-दीना: स्याम) अदीन हो कर रहें। (शरदः शतम्) सौ वर्ष तक। (च) और (भूयः) अधिक भी सौ वर्ष से।

भावार्थ—वह परमात्मा संसार की आंख है, विद्वानों का हितकारी है, शुद्ध स्वरूप है और सृष्टि के पहले से ही विद्यमान है। हम सौ वर्ष तक देखते, सुनते और बोलते हुए जीवन धारण करें। और जब तक जीवें स्वतंत्र हो कर जीवें। और सौ वर्ष से अधिक जीवें तो भी इसी प्रकार से जीवें।

व्याख्या

इस मंत्र में परमात्मा के तीनगुण* बताये गये हैं—

(क) परमात्मा को "चक्षु" कहा है और उससे प्रार्थना की गई है, कि हे परमात्मा! (पश्येम शरदः शतम् जीविम शरद शतं) हम सौ वर्ष तक देखते रहें, सौ वर्ष तक जीते रहें। क्या देखते रहें? संसार के पदार्थों को, अर्थात् हमारी दृष्टि बलवती बनी रहे, बलहीन न होने पावे। (मिलाओ "ओं चक्षु चक्षु यशो बलम्") धर्म अधर्म को और परमात्मा को। अर्थात् हम प्रकृति, आत्मा, परमात्मा और धर्म अधर्म का ज्ञान प्राप्त करते हुए ही सौ वर्ष तक जीवित रहें। देखना जीने से श्रेष्ठ है। अन्धे (अज्ञानी) हो कर जीने से मरना अच्छा है। इसी लिये देखने की इच्छा जीने से पहिले की गई है।

---

*थोड़ा विचार करने से प्रगट हो जायेगा, कि यह तीन गुण भी परमात्मा के पहिले वर्णन किये हुए तीन गुणों ज्ञान, बल और क्रिया के ही द्योतक हैं। "चक्षु" ज्ञान को प्रगट करता है, "देव हितम्" क्रिया को, क्योंकि परमात्मा का प्रत्येक काम धर्मात्माओं के हित के लिये है, और 'शुक्र' का अर्थ बल है ही।

(ख) परमात्मा को (देव हितम्) धर्मात्मा विद्वानों का हित कारी कहा गया है । इस लिये प्रार्थना की गई है, कि हे नाथ ! (शृणुयाम शरदः शतम् प्रब्रवाम शरदः शतम्) हम सौ वर्ष तक सुनते रहें। और सौ वर्ष तक बोलते रहें । अर्थात् हमारी श्रवण शक्ति सौ वर्ष पर्यन्त निर्बल न हो । (मिलाओ ओं वाक वाक, ओं श्रोत्रम श्रोत्रम यशो बलम) क्या सुनते रहें ? वेद और शास्त्रों को और विद्वानों के उपदेश को (इसी में धर्मात्मा विद्वानों का हित है ।) और क्या बोलते रहे ? इसका उत्तर यह है कि उपदेश द्वारा हम भी लोगों का हित करें । अर्थात् जिस प्रकार से परमात्मा ने हमें वेद ज्ञान दे कर हमारा हित किया है उसी प्रकार हम भी दूसरों के हित के लिये वेद का उपदेश करें । वेद ने स्वयं कहा है—

यथेमां वाचं कल्याणी मावदानि जनेभ्यः ।
ब्रह्म राजन्याभ्यां ँ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ॥

यजु० २६ । २

अर्थ—परमेश्वर उपदेश करता है कि (यथा) जैसे मैं (जनेभ्यः) सब मनुष्यों के लिये (इमाम्) इस (कल्याणीम्) कल्याण करने वाली (वाचम्) वेदवाणी का (आवदानि) उपदेश करता हूं । वैसे ही तुम भी किया करो । यह वेद वाणी (ब्रह्म राजन्याभ्याम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय, (अर्य्याय) वैश्य (शूद्राय) शूद्र [च] और (स्वाय) अपने भृत्य वा स्त्रियादि (च) और (अरणाय) अति शूद्रादि के लिये भी है ।

इस से सिद्ध हुआ, कि मनुष्य जो ज्ञान प्राप्त करे उसे अपने हृदय के संदूक के भीतर बन्द करके न रक्खे किंतु वाणी द्वारा सब मनुष्यों के हित के लिये [चाहे वह नीच से नीच भी क्यों न हों] उसे प्रकाशित कर दे। और इस प्रकार से, परमात्मा में जो हितकारी होने का गुण है, उस गुण को अपने आत्मा में धारण करे।

(ग) परमात्मा को 'शुक्र' अर्थात् शुद्ध स्वरूप वा बल स्वरूप कहा गया है। और उस से प्रार्थना की गई है कि हे नाथ! हम सौ वर्ष पर्यन्त अदीन हो कर जीवन व्यतीत करें। अदीन रहने के लिये बल की आवश्यकता है। इस लिये हमारी सारी इन्द्रियां सौ वर्ष की आयु तक बलवान बनी रहें ऐसा न हो, कि बुढ़ापे में आंखों से दिखाई देना बंद हो जावे, कानों से सुनाई न दे। टांगें चलने से रह जाँय। ऐसा मनुष्य बुढ़ापे में अति दीन हो जाता है। यह कैसे हो सकता है? इसका उपाय पीछे बताया जा चुका है. [जनः पुनातु नाभ्याम्] अपने जीवन को पवित्र बनाने, और विशेष करके अपनी जननेन्द्रिय को पवित्र रखने से ही मनुष्य बुढ़ापे में भी बलवान रह सकता है। यहां भी उसी पवित्रता की तरफ संकेत किया गया है। क्यों कि शुक्र शब्द का अर्थ केवल बल ही नहीं किंतु पवित्रता भी है।

शुक्र शब्द भी कैसा विचित्र है! इस में बल और पवित्रता दोनों भाव इकट्ठे पाये जाते हैं। कारण कि यह दोनों इकट्ठे ही रहते हैं। जहां पवित्रता है वहीं बल है। और जहां बल है वहीं पवित्रता है। शुक्र शब्द का अर्थ वीर्य भी है अतः यहां वीर्य की पवित्रता अर्थात् ब्रह्मचर्य से तात्पर्य है इसी से मनुष्य बल प्राप्त करके पूर्ण आयु को प्राप्त हो सकता है।

इस मंत्र में यह भी बतलाया गया है कि यदि मनुष्य पवित्र जीवन व्यतीत करे तो १०० वर्ष से अधिक आयु भी प्राप्त कर सकता है।

इस पुस्तक की भूमिका के आरम्भ में जो वेद मंत्र हमने लिखा है, उस में १०० वर्ष तक कर्म करते हुए जीने की इच्छा करने का उपदेश किया गया है। इस मंत्र में भी वही भाव है। क्योंकि इसमें कहा गया है कि हम १०० वर्ष तक देखते सुनते और उपदेशादि कर्म करते हुए जीवित रहें। "अदीनाः स्याम" में और आवश्यक कर्मों का भी समावेश हो जाता है, क्योंकि जो मनुष्य, अपनी आवश्यकता अनुसार सारे कर्म स्वयं नहीं कर सकता, वह अदीन हो कर कैसे जी सकता है।

लोग कहते हैं, कि जीवन तुच्छ है, इस के लिये क्या चिन्ता करनी है। पर वैदिक धर्म जीवन को तुच्छ नहीं बतलाता, किंतु उपदेश यह है कि जितना हो सके, अधिक से अधिक जीने की इच्छा करो। और वैदिक धर्म में अधिक से अधिक जीने का उपाय भी बतलाया गया है, वेद कहता है—

'मापुरा जरसो मृथाः"

जरा अवस्था से पूर्व मत मर।

आयुषायुष्कृतां जीवायुष्मान् जीव मा मृथाः
प्राणेनात्मन्वतां जीव मा मृत्योरुदगाद्वशम्।

अ० १९-२७-८

अर्थ—दीर्घ आयु प्राप्त करने वालों के समान अधिक आयु प्राप्त करके जीओ। दीर्घ आयु धारण करके जीओ। मत मरो। आत्मिक बल धारण करने वालों के समान प्राण शक्ति के साथ जीओ। (मृत्यो) मृत्यु के (वशं) वश में (मा उत् अगात्) मत जाओ।

आयु बढ़ाने का उपाय वेद बतलाता है:—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।

अ० ११-५-१९

अर्थ—ब्रह्मचर्य के तप से देव मृत्यु को हटाते हैं। अर्थात् आयु के बढ़ाने का मुख्य उपाय ब्रह्मचर्य है। (जनः पुनातु नाभ्याम्) अपनी जननेन्द्रिय को पवित्र रक्खो। ब्रह्मचर्य सबसे बड़ी पवित्रता है। इससे मनुष्य (शुक्र) वीर्य वा बल को प्राप्त होकर मृत्यु को परे धकेल सकता है। दीर्घ आयु प्राप्ति के साधारण उपाय नीचे के मन्त्र से विदित होते हैं:—

अग्निर्मा गोप्ता परिपातु विश्वतः उद्यन्त्सूर्यो नुदतां मृत्यु पाशान्। व्युच्छन्तीरुषसः पर्वता ध्रुवा सहस्रं प्राणामय्यायेतताम्॥

अ० १७-१-३०

अर्थ—अग्नि सब प्रकार से मेरा रक्षण करे। उदय होने वाला सूर्य मृत्यु के सब पाशों को दूर करे। उषा—काल और स्थिर पर्वत सहस्रों प्रकार से मेरे अन्दर प्राणों का संवर्धन करें।

इस मन्त्र में स्पष्ट बतलाया गया है कि हवन की अग्नि, सूर्य्य का प्रकाश, उपा काल और पहड़ों पर की वायु प्राणों की स्थापना द्वारा, मृत्यु के पाशों को दूर करते हैं। यह मन्त्र स्वास्थ्य-विद्या का मूल है। इन साधनों से स्वस्थ रह कर ही मनुष्य दीर्घ जीवन प्राप्त कर सकता है। अन्यथा नहीं।

तीसरी वार फिर आचमन।

अब उपासक को विचार करते २ बहुत समय हो गया है और ईश्वर की सत्ता को सब जगह अनुभव करने के लिए उसका मन विश्व में दौड़ा फिरा है। इसलिए गायत्री का जाप करने के पहिले फ़िर आचमन करना उचित है। उसके पश्चात गायत्री मन्त्र का जाप करना चाहिए।

[८] गायत्री का जाप

गायत्री मन्त्र।

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं
भर्गो देवस्य धीमहि। धियो योनः प्रचोदयात्॥

य० ३।३५

शाब्दिक अर्थ– (ओ३म्) जिस परमात्मा का निज नाम ओ३म् है। और जो (भूः, भुवः, स्वः) सत् चित् आनन्द स्वरूप है। (तत्) उस (सवितुः) जगत् उत्पादक (देवस्य) देव के (वरेण्यं) सर्वोत्तम (भर्गः) शुद्ध स्वरूप का (धी महि) हम ध्यान करते हैं। ताकि (यः) वह (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को (प्रचोदयात्) धर्म मार्ग में प्रेरित करें।

भावार्थ–जिस परमात्मा का निज नाम ओ३म् है। और जिस का स्वरूप सच्चिदानन्द है। उस जगदुत्पादक देव के सर्वोत्तम शुद्ध स्वरूप को हम हृदय में धारण करते हैं ताकि वह हमारी बुद्धियों को धर्म मार्ग की तरफ प्रेरित करे।

व्याख्या
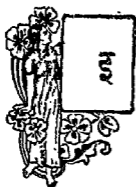
इस मन्त्र में परमात्मा के गुण वर्णन करते हुए प्रार्थना की गई है कि हे नाथ ! हमारी बुद्धियों को सदा धर्ममार्ग में प्रेरित करते रहो। मनुष्य के अन्दर भला, बुरा; धर्म, अधर्म; सुख, दुःख ऊंच, नीच आदि में भेद कराने वाली शक्ति बुद्धि ही है। यदि यह उल्टे मार्ग में चलने लगे और अधर्म को धर्म, दुःख को सुख, और नीच को ऊंच बताने लगे, तो मनुष्य का मनुष्यत्व नष्ट होने में फिर संदेह ही क्या है ? इस लिए इस मंत्र में बुद्धि को शुभ मार्ग में प्रेरित करने की ईश्वर से प्रार्थना की गई है और इसी लिए यह सर्व श्रेष्ठ प्रार्थना है वेद में और भी कहा है-

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मा मद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥

यजु० ३२।१४

अर्थ– [देवगणाः] विद्वान लोग और [पितरः] पित्तर लोग [यां मेधां] जिस उत्तम बुद्धि की [उपासते] उपासना करते हैं [अग्ने] हे ज्योति स्वरूप परमात्मान् ! तया (मेधया) उस मेधा बुद्धि से [अद्य] आज [मां] मुझे (मेधाविन) मेधावी [कुरु] करो। [स्वाहा] मैं सब को त्याग कर केवल उस शुद्ध बुद्धि की ही आपसे कामना करता हूं ।

यह गायत्री मंत्र सर्व श्रेष्ठ प्रार्थना है, इस लिये इसका जितनी बार सम्भव हो जप करना उचित है "तज्जपस्तदर्थ भावनम्" [योग० १। २८] अर्थ की भावना का नाम ही जप है, केवल मुख से उच्चारण का नाम जप नहीं है इसलिये मन्त्र के अर्थों को अच्छे प्रकार से विचारते हुए ही वार २ मन से उच्चारण करे। जितनी वार इस प्रकार से अधिक उच्चारण किया जायेगा, उतना ही अधिक लाभ होगा। इसके प्रत्येक शब्द के भाव को अच्छे प्रकार से मन में विठावे। परमात्मा का निज नाम ओ३म् है. [ओ३म् की पाछे व्याख्या की जा चुकी है] उसका निज स्वरूप "सत् चित् आनंद" है, उसी ने सारे संसार को उत्पन्न किया है वह देव अर्थात् दिव्यगुण युक्त है और उसका रूप सर्वोत्तम है [प्रकृति उत्, जीवात्मा उत्तर और परमात्मा उत्तम हैं। देखो उपस्थान मंत्र] परमात्मा के इन सारे ही गुणों को अच्छे प्रकार से मन में धारण करे, तभी मनुष्य मेधा बुद्धि को धारण करसकता है।

(९) नमस्कार मन्त्रः ।

ओं नमः शम्भवायच मयोभवाय च नमः शंकराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥ ओं शांतिश्शांतिश्शांति ।

यजु० १६ । ४१ ।

अर्थ—[नमः] नमस्कार हो [शं–भवाय] शांति स्वरूप के लिये [च] और [मयोभवाय] सुख स्वरूप के लिये [च] और [नमः] नमस्कार हो [शं–कराय] शांति करने वाले के लिये [मयस्कराय] सुखी करने वाले के लिये [च] और [नमः] नमस्कार हो [शिवाय] कल्याण स्वरूप के लिये [च] और [शिवतराय] बहुत कल्याण करने वाले के लिये ।

व्याख्या

न्ध्या के आरम्भ में आचमन मंत्र में शांति और कल्याण की प्राप्ति के लिये प्रार्थना की गई थी वह शांति और कल्याण संध्या से जब प्राप्त होगया तो अन्त में उस शांति दाता और कल्याण कर्ता परमात्मा को नमस्कार करके संध्या समाप्त करे।

ओं । शांतिः ! शांतिः ! शांतिः !!

अर्थात् [१] वैयक्तिक [२] सामाजिक [३] सांसारिक तीनों प्रकार की शांति प्राप्त हो।

वैयक्तिक शांति भी तीन प्रकार की है:—

[१] शारीरिक [२] मानसिक [३] आत्मिक। अर्थात् मेरा शरीर शांत हो; मन में शांति हो; और आत्मा को भी शांति प्राप्त हो।

॥ इति ॥

परिशिष्ट

मनसा परिक्रमा के दूसरे मन्त्र "दक्षिणादिगिन्द्रो" का अधिभौतिक अर्थ (जो किसी कारण से बीच में पृष्ठ १२६ पर छपने से रह गया है) निम्न लिखित है:—

(२) (दक्षिणादिग्) दक्षिण दिशा का (इन्द्रः अधिपति) राजा स्वामी है (तिरश्चिराजी) टेढ़ी तिरछी चाल वालों अर्थात् चोर उचकों आदि से (रक्षिता) रक्षा करता है (पितरः) रक्षक लोग—पुलिस के सिपाही और चौकीदार आदि (इषवः) उस के बाण हैं। क्योंकि बदमाश लोग पुलिस के सिपाहियों से बाण के समान डरते हैं और राजा उन्हीं के द्वारा प्रजा की रक्षा करता है।

राजा का दक्षिण दिशा से यह सम्बन्ध है. कि राजा दक्षिण हाथ * के समान शत्रुओं से प्रजा की रक्षा करता है। जिसका अधिक सम्मान करना होता है. उसे सदा अपने दक्षिण हाथ को बिठाते हैं इसलिये सभा में राजा का आसन दक्षिण-दिशा को होना चाहिये। पति, स्त्री का राजा (स्वामी) है इसलिये स्त्री भी अपने पति को दक्षिण हाथ को रखती है और आप उसके बाईं तरफ बैठती है। नगर में राज महल और सिपाहियों की बारकें भी दक्षिण दिशा को होनी चाहियें।

---

* इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणा विश्वस्यारिष्टयै शत पथ अ० ३ ब्रा० –४ इन्द्र (क्षत्रिय वा राजा) का दक्षिण हाथ सबकी रक्षा के लिये है।

(علم الارض) इल्म उल अर्ज

क्या आपने इस पुस्तक को पढ़ा है ?

नहीं। इस पुस्तक में क्या है ?

इस पुस्तक में पृथ्वी सम्बन्धी अत्यन्त ऊंचे दर्जे की विज्ञान की बातें लिखी गई हैं अर्थात् पृथ्वी के आकार, विस्तार, भार और गति आदि पर विस्तृत रूप से सरल उर्दू भाषा में बहस की गई है। इस विषय पर आज तक किसी भी देशी भाषा में इसके मुकाबले की पुस्तक मिलनी कठिन है। पंजाब गवर्नमेंट (Govt. of Punjab) ने लेखक को इस पुस्तक पर ५०) पारितोषक दिया है और (Director of Public Instruction Punjab) डाइरेक्टर आफ पबलिक इन्सट्रक्शन पंजाब ने यह पुस्तक स्कूल लाइब्रेरीज (School Libraries) के लिये मंजूर की है। इस पुस्तक की खूबियां पढ़ने ही से मालूम हो सकती हैं चन्द शब्दों में वर्णन नहीं की जा सकतीं।

आर्य समाजों के पुस्तकालयों में भी इस पुस्तक का होना अत्यन्त आवश्यक है कारण कि पृथ्वी के गोलत्व और सूर्य के इर्द गिर्द उसका भ्रमण ऐसी बातें हैं जिन्हें आर्य समाज सिद्धांत रूप से स्वीकार करता है जब कि दूसरे मतावलम्बी इन बातों के विरोधी हैं। इस लिये इन सिद्धांतों को पूर्ण रूप से जानना प्रत्येक आर्य समाजी का कर्तव्य है।

पुस्तक ३०० पृष्ठ में समाप्त हुई है। मूल्य केवल २) है।

निवेदक—

नत्थनलाल,

गवर्नमेंट हाई स्कूल,

शिमला।

शुद्धि पत्रम्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	२	९६ संस्कार	१६ संस्कार
५	१२	पशुओं की ही प्रकृनि ही	पशुओं की प्रकृति ही
६	३	पशु के सामान है।	पशु के समान है
६	१५	(सु ÷ अध्याय	(सु + अध्याय)
८	४	अत्यंत	अत्यन्त
१०	९	उसके प्रभाव पर	उसके भाव पर
१३	८	सायंकाल काल का समय	सायंकाल का समय
१४	१९	हानि कारक पर परमाणु	हानि कारक परमाणु
१५	७	खुल प्रवेश	खुला प्रवेश
१५	१५	डेड़ घंटे	डेढ़ घंटे
१५	१९	पैदा करें	पैदा न करें
१६	१०	उलूकयातु	उलूक मातुं
१६	११	गध यातु	गृध्र यातुं
१८	४	चितवन	चिंतन
२२	१२	लोभ उत्पन्न होजाता है	क्षोभउत्पन्न होजाता है
२६	फुट नोट	रोगाणां यावनंच	रोगाणां पावनंच
२७	१९	उच्च अधिकारी	उच्च पदाधिकारी
३०	१०	आर्य तत्व के विरुद्ध	आर्यत्व के विरुद्ध
३१	४	बलमास	बलमसि

३२	१६	यशोइन्द्रो	यशा इन्द्रो
३२	१६	सोमो आजायत	सोमो अजायत
३३	२०	प्रत्येक इंद्रियों	प्रत्येक इंद्रिय
३४	९	यतरहजीय	यतरद्धजीय
३४	१८,१९	सर्वं सत्य मव वदतं देत	"स वै सत्यमेव वदेत"
३५	८	भद्रं गृहं कणुथ	भद्रं गृहं कृणुथ
३७	९	पढ़ना,	में पढ़ना,
३७	१७	' सौपण चक्षु	"सौवर्ण चक्षः
३८	११	माता गिनो	माता, भगिनि
३९	८	अपने कायों की	अपने कानों की
४०	१३	तो वह रता का	तो भी वह वीरता का
४०	१६	उत्पन्न करना चाहिये	उत्पन्न करने चाहियें
४०	१७	ननुष्य का हृदय	जिस मनुष्य का हृदय
४१	११	दो अलग २ अङ्ग	दो अलग २ अङ्ग हैं।
४३	१, २	यह तीनों बल, प्रसिद्ध हैं	यह तीन ही बल प्रसिद्ध हैं
४४	३	कामाय कृशाय	कामाय चरते कृशाय
४४	१६	(पृणन् आदिः)	(प्रणन् आपिः)
४६	६	पाठ करता है।	पाठ कराता है।
४७	१,५	यहीं सव पावे ॥	यही सन पावे
४८	१३	ईश्वर पवित्रकरे (पुनः)	फिर ईश्वर पवित्र करे (पादयो) पाओं को (सत्यं) सत्य स्वरूप पर-मात्मा (पुनातु)

			पवित्र करे (पुनः) फिर
५१	फुट नोट	* स्नान–PuRification	* स्नान-Purification (यह नोट पृष्ट ५० का है)
५२	१७	(toll)	(tool)
६१	४	तपसा दवा	तपसा देवा
६२	२	लिये कम करो ।	लिये तुम करो ।
६७	१८	जावन का मूल्य है ।	जीवन का मूल है ।
६९	१४	पाओं को उपमा	पाओं से उपमा
७०	१	शिर, हृदय	वही शिर हृदय
७२	३	(प्राण + अयाम)	(प्राण + आयाम)
७३	८	धारण, यान और समाधि हैं ।	धारणा, ध्यान और समाधि है ।
७५	६	(१) प्राणायाम को	प्राण वायु को
७६	५	के अनुसार पद्यासन	के अनुसार पद्मासन
८२	१२	और मन अधिक स्वाधीन हो जाता है	और ज्यूं ज्यूं मन अधिक स्वाधीन होता जाता है
८३	१२	अधिक दृढ़ हो	अधिक दृढ़ होता
८३	१४	तब तक उसे स्वयं	जब तक उसे स्वयं
८३	२३	मल नष्ट होकर अन्दर	मल नष्ट होकर उनके अन्दर
८७	२	विश्व वा प्राण	विश्व का प्राण

८८	११	ऐश्वर्यका स्वामी नाम प्रगट होता है	ऐश्वर्य का स्वामी होना प्रगट होता है
८८	१३	परमात्मा के निज नाम स्वरूप का	परमात्मा के निज स्वरूप का
८८	१७	मनन्ति तया ँ सर्वाणि	मनन्ति तपा ँसि सर्वाणि
८९	१	ओमतिदि	ओमितीद
८९	१७	नोद्धव्यं ।	वेद्धव्यं ।
८९	२०	वह किस कारण से	वह किस प्रकार से
९०	४,५	प्रकार से हिरण्यगर्भ	उकार से हिरण्यगर्भ
९०	५	प्रकार से ईश्वर	म कार से ईश्वर
९०	६	और अज्ञादि नामो	और प्राज्ञादि ९ नामों
९०	१४	पर ब्रह्म का शुद्ध ब्रह्म	पर ब्रह्म वा शुद्ध ब्रह्म
९०	२४	चर जगत के	चराचर जगत के
९४	१५	वह जो इष्ट को जानता है	वह जो इसको जानता है
९८	१२	जीवन घन सबसे इरे	जीव घन सब से परे
१००	२०	व्यक्त काल उत्पन्न हुआ,	व्यक्त काल उत्पन्न हुआ
१०३	६	और यह उन्हीं	और यहां इन्हीं
१०३	१६	संसार अलग २ विना	संसार अलग २ चिन्हों के विना
१०४	४	प्रजाओं उत्पन्न को	प्रजाओं को उत्पन्न
१०४	१७	nudle	(nebuea)
१०७	२	जाना और पाया जा	जाना और मापा जा

		सकता है	सकता है
१०७	४.	और न माना जा	और न मापा जा
१०७	८	"संवतसर" कहलाया है।	"संवतसर" कहलाया।
१०७	११	विद्धदिस्य	विद्धद्विश्वस्य
१०७	१८	तो सूर्य का छोड़कर न जाने कहा भाग जाते	तो पृथिवी सूर्य को छोड़कर न जाने कहां भाग जाती
१०९	१२	(ऋत्) ज्ञान होता है।	(ऋत्) ज्ञान प्रगट होता है।
११०	१	और 'सत्' उत्पन्न प्रागट होते है	और सत् उत्पन्न वा प्रगट होते हैं
११३	१५	थौं,	द्यौ.
११४	५	यं च वयं	थं वयं
११५	१५	'प्रांच' (अ ×	'प्रांच (प्र +
११५	१८	उन्नति की दशा	उन्नति की दिशा
११६	५	(अञ्चु-गति पूजनयोः)	(अञ्चु गति पूजनयोः)
११८	१७	सुन्दर भाव भरे हुए हैं ना,	सुन्दर भाव भरे हुए हैं
१२२	२	मन्त्र माग स्पष्ट नहीं छपा	"इन्द्रायातोऽवसितस्य राजा"
१२२	१८	होकर मध्य से द्यौको पाता है	होकर मध्य से द्यौ को तपाता है।
१२४	१५	कुकर्मों का पाप युक्त	कुकर्मों वा पाप युक्त
१२८	४	"वरुणः-जथ वायुइन्चद्रो"	"वरुणः-जल वायु

			इचन्द्रो वा"
१२८	१४	वन और अन्न	धन और अन्न
१३०	८	सीधा बन कर	सीधा तन कर
१३०	२१	वह मनुष्य अधूरा है	वह मनुष्य अधूरा है
१३४	१४	(प्रार्वीद्रिक्)	(प्रातींवीद्रिक)
१३६	५	की दिशा का मार्ग है	की दिशा या मार्ग है
१३७	१७	विपरीत गुणों को	विपरीत गुणों का धारण करती है।
१५१	१८	किन्तु	किन्तु
१५४	१०	दूसना अर्थ	दूसरा अर्थ
१६२	३	तुन अग्नि के समान	तुम अग्नि के समान
१७५	६	"बृहपति"	"बृहस्पति"
१७५	१५	शरीर से मानो	शरीर में मानो
१८८	२२	प्राप्त	प्राप्त

नोट—इस पुस्तक में अनेक स्थानों पर व की जगह ब छपा है पाठक स्वयं समझ लें कि कहाँ व चाहिये और कहाँ ब ऐसी ही छोटी २ अशुद्धियां और भी हो सकती हैं पाठक स्वयं ठीक करलें यह केवल बड़ी २ अशुद्धियां ही दिखलाई गई हैं।